THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैनेन्द्र की कहानियां

(दसवां भाग)

('महामहिम', विच्छेद', 'निश्शेष'
और अन्य कहानियां)

पूर्वोदय प्रकाशन
८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रकाशक	पूर्वोदय प्रकाशन
	संचालक पूर्वोदय प्राइवेट लि०
	८ नेताजी सुभाष मार्ग
	दिल्ली-६
मुद्रक	नवचेतन प्रेस प्रा० लि०,
	(लीज़िज़ ऑफ अर्जुन प्रेस)
	नया बाजार, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण	१९६६
©	जैनेन्द्र ट्रस्ट
मूल्य	चार रुपये

जैनेन्द्र की कहानियां

(दसवां भाग)

महामहिम १०
निश्शेष १६
यथावत २८
विच्छेद ३८
मुक्त प्रयोग ४८
कष्ट ५८
बेकार ६५
झमेला ७३
ये दो ८६
वे दो ९८
छः पत्र दो राह ११०
जीना मरना १२०
उलट फेर १३७
चक्कर सदाचार का १४८
विक्षेप १५८
मुक्ति १६६

प्रकाशकीय

प्रस्तुत सग्रह मे सोलह कहानिया है । रोचकता, मार्मिकता व तीक्ष्ण आत्मपरक व वस्तुपरक गहनता की दृष्टि से यह कहानी-सग्रह अद्भुत है । सग्रह मे वैविध्य व कलात्मक सौष्ठव के अनायास दर्शन होते हैं । इससे लेखक का यह प्रतिनिधि सकलन है ।

कुछ अत्यन्त विवादास्पद कहानिया इसमे सम्मिलित हैं जिन्होने बौद्धिक स्तर पर गम्भीर उथल-पुथल उपस्थित की हैं ।

पाठको एव साहित्य-शोधको के लिए यह सकलन समान रूप से सग्रहणीय है ।

महामहिम

उषा परिचारिका नही है। कुछ सैक्रेटरी ही समझिए। वही महामहिम के सवेरे के नाश्ते-पानी की व्यवस्था करती है।

कमरे मे आई और देखकर वह दग रह गई कि महामहिम बैठे है। दाहिनी बाह कोहनी से मेज पर टिकी है और चेहरा हाथ मे थमा है।

वह आई थी कि मेज़ साफ करेगी। चीजें सही जगह चुनकर रखेगी। और तैयारी हो चुकने पर महामहिम से कहेगी। पर अब वह ठिठकी रह गई। दरवाजे पर ही सोचती रह गई कि वह आगे बढे या वापिस जाय।

ऐसा कभी नही हुआ है। महामहिम हमेशा उद्यत प्रसन्न दीखे है। यह तो कल्पना से बाहर है कि वह अपने से आकर इस कमरे मे बैठें और वह भी इस तरह कि बेभान हो और सोच मे हो।

उसे खडे-खडे अनुचित मालूम होने लगा और वह दबे कदम वापस जाने को थी कि महामहिम ने कहा, "अरे, उषा!"

उषा स्तब्ध रह गई। उसे पहचाना जाएगा, नाम लेकर सम्बोधन से पुकारा जाएगा, यह उसके लिए बहुत अधिक था। मानो वह जमकर पत्थर बन आई।

"मेज साफ करोगी?"

बडी कठिनाई से उसके मुह से निकला, "जी!"

"तो, करो साफ।"

कहकर महामहिम कुर्सी छोडकर खड़े हुए और पीछे सरक कर दीवार से सट आए। उषा बुत बनी अपनी जगह खडी रह गई।

"आओ, साफ करो मेज।"

उषा डरी-सी डग-डग भरती आई और मेज को साफ करने लगी।

महामहिम खडे देखते रहे। उषा को मालूम हुआ कि उसकी पीठ पर महामहिम की निगाह है। वह जैसे अन्दर सिमटती गई। यह एक-दम अप्रत्याशित था, असम्भव था।

"तुम्हारी मा की तबियत अब कैसी है?"

"जी?"

उसने मेज से अपना मुह नही उठाया था। कैसे उठा सकती थी? उसके मा है और वह बीमार थी। यह पता महामहिम को हो सका, क्या इतना ही उसे विस्मय-विमूढ करने के लिए काफी न था?

"दवा कर रही हो? क्या दवा कर रही हो?"

"जी?"

इस बार उसने हिम्मत करके महामहिम की ओर मुह फेरकर उन्हे देखा। महामहिम की आखो मे परिचय देखकर उसे बहुत विस्मय हुआ। बल्कि परिचय से आगे भी कुछ था—चिन्ता थी, करुणा थी।

"क्या दवा करती हो?"

"जी, कुछ नही।"

"गलत बात है—मुझे क्यो नही कहा?"

"जी, मा दवा नही लेती।"

"दवा नही लेती!" महामहिम मुस्कराए, बोले, "डाक्टरी दवा नही लेती होगी तो देसी लें। मा की बीमारी पर तुमने छुट्टी क्यो नही ले ली?"

"जी!"

"अब पहले से आराम है न?"

"जी।"

"अच्छा, तो मेज साफ करके और नाश्ता निपटाकर जाकर मा को संभालना और आके मुझे बताना।"

उषा चित्र लिखी-सी महामहिम को देखती रही। उसे विश्वास न आ रहा था।

महामहिम ने कहा, "बस, हो गई मेज साफ। जो हो ऐसे ही ले आओ। फिर जाओ और मा की खबर लाकर दो।"

उषा मुडी, एकाध हाथ मेज पर दिया और बराबर पैंट्री मे चली गई।

महामहिम को वक्त नही रहता। समय ही ऐसा है। देश विदेश की समस्याए बढती जा रही हैं। स्थिति विस्फोटक आ बनी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति बेहद उलझ गई है। राष्ट्र नेताओ के आपसी राग-द्वेष सभाले नही सभलते। वह सब है। लेकिन इस वक्त उषा की मा की तबियत का सवाल जो उनमे उठ आया, सो उन्हे बडा अच्छा मालूम हो रहा है। जैसे वह सब मिथ्या हो और यह सच।

महामहिम सच ही इस समय अपने ऊपर विस्मित है। बहुत-बहुत काम है। सब बेहद जरूरी है। उनसे बचकर वे आए थे और यहा कुर्सी मे ठोढी को हाथ मे लेकर बैठ गए थे। फिर यहा ऊषा आ गई और उसकी मा की बीमारी का ध्यान हो आया। जाने कैसे उडती-सी बात की तरह उन्हे मालूम हुआ था कि उषा की मा की तबियत ठीक नही है। ध्यान देने जैसी वह बात न थी। फिर भी एकाएक उसका स्मरण उठ आया और नागहानी उषा से उसका जिक्र हो आया तो अब उन्हे बडी सार्थकता का अनुभव होने लगा था। मानो बाकी और झमेला हो और अनायास यह एक सचमुच की असलियत बीच मे आ गई हो।

महामहिम जैसे गहरे सोच मे पड गए। दिन रात वह देश और विदेश मे रहते है। पत्नी नही है, कोई नही है। बेटी है, वह भी बस है और जैसे अलग है। मानो उसका होना आनुषगिक हो, असली होना देशो और विदेशो का ही हो।

पर अब इस छोटे से कमरे मे आकर दीवार के पास अकेले खडे वह सोचने लगे कि देश और विदेश जो इस समय मिट गये है, सो कुछ

बुरा नही हुआ है। शायद दिन-रात उनका ही होना और रहना अच्छी बात नही है। कभी-कभी हम तुमको भी होना चाहिए।

अभी वह खडे ही थे कि उषा एक-एक करके चीजें लाती गई और उनके सामने मेज पर सजाती चली गई। वह बैठे नही, देखते ही रह गए। उषा सामान्य-सी लडकी है। असुन्दर नही है, पर सुन्दर भी नही है। बहुत ज्यादा जवान भी नही है। उल्लेखनीय कुछ भी उसके आसपास नही है। पर महामहिम उसे देखते रह गए और उन्हे अपने मन मे यह अनुभव बिल्कुल गलत नही मालूम हुआ कि उषा है और देश-विदेश नही हैं। उन्हे बडा अचम्भा मालूम हुआ कि देश-विदेश की उलझनें किस आसानी से उतर कर दूर हो जाती हैं। मनुष्य को सामने और सच बनाने की देर है कि बाकी फिर आप ही गौण और वृथा हो आता है।

सहसा बोले, "बस, बस, उषा। बहुत हो गया। अब तुम मा के पास जा सकती हो।"

उषा चकित-सी बोली, "जी!"

"बस और नही चाहिए। इतने से चल जाएगा। तुम जाओ।"

"मा अब ठीक है।"

"ठीक हैं तो जाकर मेरा उन्हे प्रणाम देना।"

"जी?"

महामहिम ने रुष्ट बनकर कहा, "इतना भी समझती नही हो क्या?" अपनी मा को जाकर मेरी तरफ से प्रणाम कह देना। और मुझे सब हाल बताना। सुना? समझी? बस अब जाओ।"

उषा जा कैसे सकती थी। ब्रेकफास्ट की तिहाई भी तैयारी नही हो पाई थी। काफी आई थी और बस टोस्ट! इस अधूरेपन मे वह कैसे जा सकती थी?

पर महामहिम खडे थे और वह कह चुके थे, जाओ। मानो रोष मे उन्होने कहा था। सच का वह रोष होता तो वह टिकती ही कैसे?

पर वह तो कृपा से भी बडी करुणा का था । इसलिए और भी आव-श्यक था कि वह अपने कर्त्तव्य मे अधूरी न रहे । उसने इसलिए महा-महिम की बात को सुना-अनसुना किया और उपाहार के अन्य पदार्थ एक-एक कर वह लाती चली गई ।

महामहिम कुर्सी की पीठ थामे उसी तरह खडे रहे । देखते रहे कि उषा एक-एक कर पदार्थ लाती जाती है और मेज पर करीने से उन्हे रखती जाती है । उन्होने उषा के काम मे कोई व्याघात नही उपस्थित किया । जाने वह क्या सोचते रह गए । निश्चय ही उषा उनकी आज्ञा का उल्लघन कर रही थी । पर यह उल्लघन उन्हे खटक नही रहा था । उनका मन चिन्ताओ और विचारो से मानो इस समय हल्का हो रहा था । वह महामहिम है ! इसी का ध्यान उनसे खो गया था । कोई है जो एक-एक कर तरह-तरह की चीजे लाकर मेज पर रखता जा रहा है । वह स्वय उनमे से किसी को छुएगा नही । उसका काम सिर्फ लाना और रख जाना है । वह तो कोई दूसरा ही है जो उन सब पदार्थों का भोग पाएगा । उन्हे अनोखा लग रहा था यह कि वह दूसरा कोई और नही, स्वय वही है । अब तक कभी उन्हे यह नही सूझा था । प्रकट था कि वह महामहिम हैं और दूसरे सेवक हैं । एकदम वैधानिक था कि दूसरे सेवा करे और वह सेवा पाए । लेकिन इन क्षणो मे वह वैधानिकता बीच से जाने कहा उड गई थी । एक व्यक्ति के मानिन्द होकर कुर्सी की पीठ थामे वह खडे रह गए थे और देखे जा रहे थे कि दूसरा व्यक्ति है जो सहमा डरता हुआ सा उनके लिए एक पर एक व्यजन और पदार्थ लाता और यथाविधि रखता जा रहा है । मानो उसकी कृतार्थता बस इतने मे ही है । उस अस्तित्व की, कौशल की, व्यक्तित्व की धन्यता इसमे है कि वह स्वय उसे स्वीकारे और भोग पाए । इस समय बडा ही अनोखा लग रहा था वस्तुओ का यह विधान और उन्हे अपनी महामहिमा की बात बिल्कुल समझ न आ रही थी ।

चीजें लाई जाती रही और रखी जाती रहीं । महामहिम अन्त

तक बैठे नही। सहसा उन्होने पाया कि जो रह-रह कर जा रहा था, और ला रहा था, वह इस बार जाकर वापस नही आया है। दो एक क्षण इस पर वह ठहरे। फिर पुकारा, "उषा!"

उषा अब जाने की तैयारी मे थी। महामहिम की इस नई अवस्था को देखकर उसने अपना काम कुछ सक्षिप्त अवश्य मान लिया था। अर्थात् कॉफी ढालकर कप स्वय तैयार करके देने की आवश्यकता उसने आज नही मानी थी। यह भी उसे याद आ रहा था कि आज्ञा हो चुकी है, उसे मा के पास जाना चाहिए।

तभी उसने पुकार सुनी और वह उपस्थित हुई।

महामहिम ने कहा, "यहा बैठो और एक कप और ले आओ।"

उषा अविश्वस्त बनी सी खडी रह गई।

"सुना नही, एक कप और ले आओ।"

उषा काप आई और हिल न सकी।

"कहा यह है कि जाकर कप लाओ।"

मानो क्रूरता ही थी महामहिम के शब्दो मे। उषा गई और कप ले आई। और आकर फिर खडी हो गई।

"मै कहता हू बैठो यहा। मेरे लिए कप बनाओ। और अपने लिए भी।"

सचमुच इससे कडा दण्ड उसके लिए दूसरा न हो सकता था। वह बन्दी की भाति आज्ञा पर काम करने लगी।

"क्यो, मा का ख्याल आ रहा है? कहा था तब नही जा सकी। अब काफी खत्म करके ही जाना हो सकेगा।"

उषा घबरा रही थी। महामहिम को भी ध्यान आने लगा था विधान की मर्यादा का। कर्मचारी-गण इधर-उधर आ निकलेंगे। वे क्या सोचेंगे? उषा तो इस विचार मे अपने भीतर मरती ही जा रही थी। लेकिन महामहिम उस विचार पर अन्दर ही अन्दर तनिक और उत्साहित हो आए।

"क्या घवराहट है ? मा कोई मर नही जाएगी।" कहकर महामहिम ने अपने हाथो से उपा के लिए दूसरा कप वनाया। यह आवश्यक इसलिए भी हो गया था कि वाहर के दरवाजे पर एक बटलर दीख आया था। कप वनाकर महामहिम ने उसे आगे वढाकर कहा, "लो।"

यह तो हद ही थी। उपा इस पर उठी और एकदम डर की मारी भागती हुई-सी वहा से चली गई।

महामहिम मुस्कराकर रह गए। सोच उठे कि नही, आदमी ही परस्पर सच नही है। मालूम होता है दूसरी वाते भी सच है। फिजूल की वाते, देश-विदेश जैसी वाते !

जनवरी, '६५

निश्शेष

दरवाजे पर देर तक थपथपाहट होती रही तो शारदा घुटनो पर हाथ देकर उठी।

दरवाजा खोला तो देखा मुरारी आए हैं।

"नमस्ते भाभी !"

"आओ मुरारी !"

कमरे मे आकर बैठे तो मुरारी ने कहा, "भाई साहब आए है—"

शारदा ने उत्तर मे कुछ नही कहा। उसके चेहरे पर से भी कुछ प्रकट नही हुआ।

"—शाम आए थे, तभी इधर आने को कह रहे थे। लेकिन··· उनकी तबीयत ठीक नही है।"

शारदा चुप ही बनी रही।

मुरारी पर जोर पडा। फिर भी वह कहता ही चला गया—

"खासी है। तीन महीने से, बताते है, खासी का ठसका चल ही रहा है। मुझे तो हालत अच्छी नही मालूम होती।···भाभी, अब पीछे की बाते—"

शारदा ने दोनो हाथो से घुटनों पर फिर जोर दिया और मानो उठने को हुई। बोली, "चाय लाती हू तुम्हारे लिए।"

"नही भाभी, नही। तकल्लुफ की बात नही है। वह मेरे साथ ही आ रहे थे। मैंने रोककर कहा कि पहले मैं देख आऊ।···भाभी, उनके मन मे पछतावा है।"

"किस बात का पछतावा ?"

"बीती बातो को भुला दो, भाभी। दो तरफ जिन्दगी बरबाद होनी

रहे, इससे कुछ फायदा है ? भाई अब पहले से बदल गए है।"

शारदा ने कहा, "तुम्हारे भाई है—तुम्हारे पास नही रह सकते ? मै कौन रह गई हू जो यहा आयेंगे ? मुरारी, तुम लोग उन्हे सभाल लो। उनका चौथापन है तो क्या मेरा नही है ? जाना तो मुझे चाहिए था सहारे के लिए उनकी तरफ। वह चले भी जाए, तो उन्हे क्या ? लेकिन मैं तो अकेली नही हू और अपने बाल-बच्चो को जैसे बना मैंने सभाला है। नौकरी कर रही हू और जी रही हू। अब मेरी शान्ति मे, मेहरबानी करें, विघ्न न डाले। बच्चो के लिए भी मैंने उनकी तरफ नही देखा है। मैं जानती हू, ये पन्द्रह बरस कैसे कसाले के मेरे गए है। मैं तो तुम लोगो के घर से निकली हुई हू। फिर मुझे क्यो पूछा जाता है ? उनसे कह देना, सब ठीक है। यहा आने की, तकलीफ उठाने की कोई जरूरत नही है।"

"भाभी, इतना कठोर नही होना चाहिए।"

"तुम भी मुझे दोष दोगे मुरारी ? तो कठोर ही सही। मै अपनी विपदा लेकर तो किसी के यहा नही गई। बस, इतना करो तुम लोग कि मेहरबानी करो। और जैसे छोडा है, वैसे ही मुझे अपनी किस्मत पर छूटी रहने दो। मैं और कुछ नही मागती हू।"

"तो भाभी, सच यह है कि भाई साहब नीचे ही खडे है!"

"नीचे ?"

"कुछ उन्हे भी झिझक थी। कुछ मैने भी कहा कि जरा देखे आता हू।"

"तो उन्हे नीचे ही से ले जाओ। देखो, मेरा दिन न खराब करो।"

लेकिन शारदा को नही मालूम था। उसकी पीठ थी दरवाजे की तरफ। पर मुरारी ने अपने भाई रामशरण को झाकते वहा देख लिया था और इशारा कर दिया था कि आए नही, ठहरे।

वह बोला—"उनकी नौकरी छूट गई है भाभी! महीने भर से पुष्कर मे थे। सोचो तुम्ही कि कहा जाएगे ? मेरे पास कब तक रह सकते

है, या मेरे छोटे भाई के पास ? तुम भी यहा अकेली हो, वह उधर बेहाल है। पन्द्रह साल बहुत हो गया, भाभी। अब गुस्सा थूक दो और पहली बातो को भूल जाओ।"

"भूल गई हू मुरारी ! बिल्कुल भूल गई हू। कह देना उनसे कि यह भी भूल गई हू कि व्याह हुआ था।"

"भाभी !"

"मुझे तग न करो मुरारी, जाओ।"

"मैं अभी आया, भाभी।" कहकर मुरारी उठा और कमरे से बाहर आया। बाहर रामशरण को सकेत किया कि वह जीने से फिलहाल उतर जाए, इतने वह आकर खबर देगा। रामशरण के चुपचाप जीने से कुछ कदम उतर के चले जाने पर मुरारी अन्दर आया और कहा, "अब कहो।"

शारदा ने कहा, "वह दरवाजे पर आए खडे थे न ?"

"हा, मैंने उनको नीचे भेज दिया है।' 'भाई साहब पर भाभी आपका गुस्सा हो सकता है। मैंने तो गुनाह नही किया है। मुझे मौका दिया होता !"

"मुरारी !"

"भाभी, आप जानती हैं कि गिरिस्ती मे मुझे एक क्षण का सुख नही मिला है। हर समय का क्लेश और कलह। आपके रूप ने भाभी, मेरे मन मे क्या जगह ले रखी है, कैसे बताऊ ? कभी नही कहा, आज कहता हू, जब भाई साहब को मैंने खुद ही जीने से उतार दिया है कि''"

शारदा हसी। बोली, "मेरे रूप की यह पूजा तुम्हे अब याद आई है !"

"नही भाभी ! पहले दिन से जब तुम घर मे आई, मैंने तुम्हें देवी की जगह रख कर पूजा है।"

हस कर शारदा ने कहा, "पूजा है न ? बस, अब भी पूजते रहो और जाओ।"

"भाभी ?"

"जाओ—"

मुरारी ने जाना नही चाहा। जाने कब की साध थी और आशा मे वह टूटना नही चाहता था। भाभी की मुस्कुराहट ने एकाएक उसे सींचकर हरिया दिया था और मुरारी चिटका रह गया। उसकी आखो मे जाने क्या भर आया था। चाह तो थी लेकिन उसके मद के साथ जाने कैसी एक विनम्रता और कातरता मिल आई थी। मानो एक साथ वह टूट पडना चाहता हो। भीतर अपने मे और बाहर उस नारी पर।

शारदा ने इस मुरारी को देखा। वह फिर भी हसी। हसी मे बेहद तीखी धार थी। वह आदमी की आशाओ को एक साथ भीतर तक काटती चली गई। उसने कहा, "मुरारी ! तुम चले जाओ।"

अनन्तर मुरारी एक शब्द नही बोला। चुपचाप वहा से चला गया।

शारदा पीढे पर बैठी थी। घुटने पर हाथ देकर वह उठी। उसने भीतर बेहद क्लान्ति अनुभव की। जैसे बहुत थक गई हो और जीना बस भार हो। उठकर उसने बाहर जीने का दरवाजा बन्द करने की भी चिन्ता नही की और बराबर बिछे पलग पर एकदम लेट गई। बदन के जोडो मे दर्द मालूम होने लगा था और वह ऊपर सूनी छत मे जाने किस बिन्दु को टक बाधे देखती रह गई थी।

कुछ इसी अचेतावस्था मे उसने जीने से चढते हुए डगो की आहट सुनी। उसे कुछ भय-सा मालूम हुआ। लेकिन वह उठ नही सकी। वैसी की वैसी लेटी ही रह गई।

थोडी ही देर मे मुरारी और रामशरण दोनो चलते हुए कमरे मे आए।

जैसे क्षण भर उसने किसी ओर देखा नही, उस छत मे ही देखती रह गई। उसने उठने की चिन्ता न की। वह आहट से ही समझ गई थी कि आनेवाले कौन हैं। एक अलस विरक्ति मे मानो समझने के बाद भी उसे कुछ करने या सोचने की सुध न हुई। उसमे एक दहशत व्याप

रही थी जो मानो इस विरक्ति से मिल कर जम आई और उसको जड़ बनाती जा रही थी।

मुरारी के साथ रामशरण थोड़ी देर आए खड़े रहे। फिर जोर से बोले, "यह क्या फैल मचा रखा है ?"

नही, सम्भव नही हुआ। काया स्थिरीभूत, निश्चल, निश्चेतन नहीं रह सकी। वह एक झटके से पलग पर उठकर बैठ आई और धोती को माथे के जरा आगे लिया। कहा, "बैठिए।"

रामशरण नही बैठे। और मुरारी भी उनके पास खड़े रहे। पलग से उनकी दूरी दो बालिश्त की न होगी। वह सिरहाने की तरफ खड़े थे। शारदा उठकर बैठी तो तनिक पायते की तरफ हो आई थी। यह भर दिया था, 'बैठिये'—लेकिन निगाह को मोड़कर उधर देखने का कष्ट उसने अपने को नही दिया था। अब धोती की किनार को जरा माथे के आगे लाकर उसने अकम्प स्वर से कहा, "बैठो मुरारी—बैठिए।"

"कोई यहा बैठने को नही आया है।" रामशरण ने तेज होकर कहा, "मुरारी! तुम जाओ, टैक्सी लाओ।··और सुनती हो तुम! दो मिनट मे तैयार हो जाओ! तुम्हे साथ चलना है। बहुत हो लिया यह हरजायीपन! अब बदमाशी नहीं चलेगी।"

मुरारीलाल चला गया था। शारदा ने जरा आख ऊपर करके रामशरण को देखा। रामशरण की आखों मे अग्नि थी। वह कुछ देर देखती रही। अब उसमे दहशत नही रही। सकट तब तक ही था कि जब दूर था। अब बिलकुल पास आने पर मानो वही एक निश्चय और स्फूर्ति के उदय का कारण बन गया था। उसने स्वर को भरसक थाम कर कहा, "खड़े क्यो हो। बैठ जाओ।"

"कोई जरूरत नहीं है बैठने की, और उठकर तुम दो मिनट मे तैयार न हुई तो······"

"कुछ लाए हो—नमंचा वगैरह ?"

रामशरण ने कहा, "यह हाथ काफी है। क्यो, पहली मार भूल गई ?"

शारदा बैठी-बैठी मुस्कुराई। उसके भवो मे तेवर थे। बोली, "बार-बार तुम्हे मारने का कष्ट उठाना पडेगा—अगर जीती रहने दोगे। एक बार मे खतम क्यो नही कर देते ?"

"खतम ही करना होगा, एक बार। अभी यहा से चलना होगा।"

"कहा ले चलोगो ?"

"बैठी-बैठी बातें न करो, खडी हो जाओ। जहा मैं रहूगा, वहा तुम रहोगी।"

'रहती तो थी ! निकाला तुम्ही ने नही था ?"

"निकाला था, मैंने ही निकाला था। इसलिये निकाला था कि तुम घर के लायक नही थी। लेकिन अब देखता हू कि पति का कर्त्तव्य उतना ही नही है। घर की रक्षा के लिए तुम्हे निकाला था। पर देखता हू वह तुम्हे और मौका देने के बराबर हो गया। हद हो गई है तुम्हारे हरजाई-पने की। तुम समझती हो तुम गुलछर्रे उडाने के लिए हो ! नही, तुम्हारा व्याह हुआ है। और पुश्चली व्यभिचारिणी को घर मे रखने का धर्म अगरचे नही है तो भी अब मैंने पहचान लिया है कि पति होकर मैं तुम्हे उस आवारगी के रास्ते पर बढते जाने का पाप अब नही सह सकता। आज समझ लो, तुम्हारी बदमाशियो का अन्त आ गया है।"

शारदा मुस्कराई। बोली, "मुरारी कहता था, नौकरी छूट गई है !"

"तुझे इसी का गुमान है, बदकार, कि तू बी० ए० एल-टी० है और नौकरी पर बहाल है ! औरत की जिन्दगी खाविन्द के साथ है। और वह भीख मागेगा तो भी औरत को उसकी सेवा करनी है। व्याह पैसे से होता है कि मर्द से होता है ? चलो उठती हो कि नही ?"

शारदा ने कहा, "मुझे इस वक्त पौने चार सौ मिल रहा है। दिल्ली बडी जगह है। ढूढोगे तो तुम्हे भी काम मिल जाएगा। यही क्यो नही रह जाते ?"

"यह क्या कह रही हो तुम ?"

"ठीक कह रही हूं। दिल्ली में काम देखते रहना। कहां इधर-उधर जाते हो। बताओ, इस बीच कुछ बचाया है तुमने ? न बच्चों को कुछ दे सके हो। तन भर पाला है, सो तो यहां भी हो ही जाएगा।"

"मैं यहां रह सकता हूं ?"

"क्यों नहीं रह सकते हो !"

"मुरारी तो कहता था कि "

"तुमने मुरारी को अधिकार दिया है कि—तुम्हारी जगह वह मेरे साथ ··"

"क्या बक रही हो ?"

"—मगर शर्त है कि तुम आदमी बनकर रहो। रह रहकर जो तुम उपदेशक और वहशी बना करते हो, सो नहीं चलेगा।"

"तुमने समझा क्या है अपने को ? बकवास बन्द करो। और तैयार हो जाओ। कोई नौकरी-वौकरी नहीं होगी। और जैसे मैं रहूंगा और कहूंगा, वैसे तुम्हें रहना और करना होगा। शर्म नहीं आती तुम्हें कि मैं खड़ा हूं, और तुम बैठी बतला रही हो ?"

शारदा पलंग पर अपनी जगह से भी अब खड़ी नहीं हुई और मुस्कराकर कहा, "अभी मुरारी के यहां तुम ले जाओगे—शर्म की बात यह है। मैं वहां नहीं जाऊंगी।"

"छोड़ो, न सही। मुरारी वैसे अपना है और मौतबिर है। लेकिन कोई बात नहीं। सीधे मेरे साथ चलो, जयपुर।"

"जयपुर !"

"मालिक लोग अब भी चाहते हैं। नौकरी मैंने अपने से छोड़ी थी।···रामू कहां है ? कब आएगा ?"

"वह तो शाम को सात-आठ तक आता है। सात मील जाना पड़ता है। बड़ी मुश्किल से साल भर भटकने पर नौकरी लगी है !"

"तो—वह यहा रहेगा।"

"सवा दो सौ उसे मिलता है। उतने मे दिल्ली मे कैसे रह लेगा ?"

"न होगा, हम कुछ भेज दिया करेंगे। और बस अब तुम उठ जाओ।"

शारदा ने बैठे ही बैठे कहा, "अगर मैं न उठू तो ?"

रामशरण ने पजा खोलकर दिखाया और जतला दिया कि न उठने का मतलब क्या हो सकता है।

शारदा की मुस्कराहट इस पर और भी कटीली हो आई। उसकी चितवन मानो रामशरण को घायल करने लगी। मानो उस चितवन मे वर्जन की जगह आमत्रण हो।

शारदा बोली, "मुझे खडे होने को कहते हो। अच्छा था—तुम्ही बैठ जाते।"

उस चितवन की भाषा का अपने मन के अनुसार अर्थ पढकर राम-शरण ने कहा, "मुरारी टैक्सी ला रहा है।"

"लाने दो। मुरारी उसमे बैठकर चला भी जाएगा। फिकर क्या है।"

"शारदा !"

"मुरारी का तुम भरोसा करते हो !"

"तुम सच कह रही हो ?"

"मैं तुम्हारे भरोसे को तोडना नही चाहती। लेकिन…"

"आने दो उस कम्बख्त को !"

शारदा मन ही मन हसी। बोली, "यह तुम्हारे वह भाई है जिनके पीछे तुमने मेरे साथ जाने क्या बदसलूक नही किया !"

"मुझे पहले क्यो नही बताया—खून पी जाता उसका।"

"अब भी कहा बताया है ? वह तो बात मे बात आ गई। और बताया इसलिये नही था कि मुझे अपने पर भरोसा था, और है। तुम्ही

हो कि उन्हें अपना आधार मानते हो।"

इतने में मुरारी टैक्सी लेकर आ गया। रामशरण ने कहा, "मुरारी! टैक्सी में जाओ और मेरा सामान यहीं ले आओ। मैं नहीं समझता था—"

मुरारी कमरे में आकर असमंजस में खड़ा रह गया था। शारदा पलंग पर बैठी थी और रामशरण खड़े थे।

शारदा ने कहा, "बैठो, मुरारी। और तुम भी बैठो न। ऐसी जल्दी क्या है सामान की?"

"तुम चुप रहो!" "मुरारी, जाओ! मुझे ऐसी आशा न थी तुमसे, मैं यहीं ठहरूंगा। सभी सामान मेरा लेकर आ जाओ।"

मुरारी पलंग से ज्यादे दूर नहीं था। शारदा ने हाथ बढ़ाकर उसे बांह से पकड़ा और उसी पलंग पर बिठाते हुए कहा, "तुम भी बैठ क्यों नहीं जाते हो, कुर्सी पर! और मुरारी, इनकी बात पर मत जाना। क्यों, सामान लाना ही है? मैं फिर जाकर ले आऊंगी।"

"नहीं। मुरारी को जाने दो।"

"तो अच्छा मुरारी, टैक्सी ले जाओ। दो घण्टे बाद आना। सामान फिर देखा जाएगा।"

मुरारी ने जाने से पहले रामशरण को देखा। रामशरण बुत की तरह खड़े रहे। मानो उनकी अनुमति है। मुरारी कुछ देर असमंजस में रहा और फिर चला गया।

रामशरण कुछ देर माथे में तेवर डाले खड़े ही रहे। फिर आकर पलंग पर बैठ गये। शारदा जरा परे हट गई।

"क्यों, क्या बात है?"

"तुम—क्या कह रहे थे?"

"यह ठीक नहीं है हम लोगों का अलग रहना। दस जने दस बात कहते हैं। और बच्चों पर बुरा असर पड़ता है।"

शारदा ने देखा। वह उनका पति है। उनका मन अन्दर से जल

रहा था। और निगाह उसकी कठिन थी। बोली, "पड चुका असर जो पडना था। बच्चे अब बडे हो गए हैं। दस जनो के कहने की फिकर करते हो! तुमने क्या-क्या कहा है, वह याद नही करते ?"

"छोडो उन बातो को।" कहते हुए रामशरण जरा उधर सरके।

शारदा परे हट गई। बोली, "आगे न बढना !"

"क्या मतलब ?"

"मतलब अपने से पूछो !"

"और मुरारी को बाह पकडकर पास बिठा लिया था !—"

"हा, बिठा लिया था। दस बार बिठाऊगी। पर खबरदार तुम·· "

रामशरण का उस स्त्री से विवाह हुआ था। सात भावरें पड़ी थी। फिर यह उसकी हिम्मत! तेजी से बाह बढाकर उसने शारदा की कलाई को पकड लिया। शारदा उसके लिए एक साथ अत्यन्त कमनीय और भर्त्सनीय हो आई थी।

हाथ का छूना था कि एक झटके से शारदा ने अपनी बाह छुडा ली, "खबरदार! जो हाथ लगाया।"

रामशरण ने दात पीसकर कहा, "ओह! पारसा बनती है। बद-जात, छिनाल कही की।" और कहते हुए फिर उन्होने हाथ फेंका।

शारदा तेजी-से पलग से हट गई। बोली, "मै छिनाल सही। पर तुम मुझे नही छू सकते।"

"तुझे? तुझ हरजाईन को! छुए तुझे तो पाप लगे। तूने अपने को समझा क्या है ?"

शारदा हस आई। कटीली वह हसी थी। बोली, "यही कहती हूं कि पाप लगेगा, छूना मत।"

रामशरण पलग के सिरहाने के करीब थे। शारदा पायते से जरा हट कर खडी हुई थी। उसकी आखो मे चुनौती थी और रामशरण की निगाह मे चाहत और नफरत की झुलस थी।

"तू अपने को खूबसूरत समझती है। इसी गुमान ने तुझे बहका

दिया है। पर···· "

"मै कुछ हू, पर तुम छू नही सकते।"

"मै छू नही सकता ? मै तेरी बोटी-बोटी कर सकता हूं। पर छिनाल, सच बता, तूने मुझे रोका क्यो ?"

"मैने नही रोका।"

"अब ये नखरे!—मै तुझे समझ लूगा।"

"तो सुनो! इसलिए रोका था कि मै तुमसे अकेले मे भुगत लेना चाहती थी। मुरारी के सामने ख्वारी नही चाहती थी। कान खोलकर सुन लो। यह शरीर तुम्हे अब कभी नही मिलेगा। एक दफे नही, दस दफे कह चुकी हू। फिर शर्म नही आती तुम्हे कि लार टपकाते आते हो। भगवान के घर मे न्याय है, तो तुम्हे मिट्टी की औरत नही मिलेगी। औरत के मन थोडे ही होता है! तुम समझते हो मन तुम्हारे ही है। जो भुगता है, मै ही जानती हूं। कोई और होती तो शकल न देखती। घर तक मे कदम न रखने देती। पर तुम तो चरम चाट गये हो। मालूम है तुम्हे कि तुम्हारे बच्चे छोटे कैसे पले हैं? और उस वक्त तुम उपदेश पै चढ़े हुए थे। इन्सान को जीना होता है और जिलाना होना है। पहला फर्ज यह है, तुम फर्ज को किताब मे और शास्तर मे टाले रहे। ऊपर से बैठ कर गालियां देते रहे और खबर नहीं ली कि जिया जा रहा है तो किस विधि जिया जा रहा है। जीने मे पैसा लगता है। तुमने कमाया? कभी कुछ लिया? कभी कुछ दिया? बस देने को नीति के उपदेश रहे, जैसे उन्ही से पेट भरना हो। और कपड़े उन्ही को काट-काट कर बन जाते हो।' तुम्हे इसलिए मैने रोका कि आखिरी बार सुन लो कि तुम जाओ अध्यातम मे और धरम मे रमो। और जगह-जगह जाके उपदेश छांटा करो। हमको हमारे भाग पर छोड दो। कोई पैसा तुमसे नहीं मांगता, कोई तुम पर बोझा नही बनेगा। बेटियां गईं हम मां-बेटे जैसा होगा रह लेंगे। तुम्हारे आगे कोई हाथ पसार कै नहीं आयगा। मैंने कुछ कहा था कि दिल्ली मे कुछ काम-धाम देख लो

और साथ मे खर्चा ज्यादे नही लगेगा। पर वह नही होगा। यहा दिल्ली मे तुम्हे नौकरी मिल जाए, चाहे कितना ही तुम पाने लगो, मुझे उससे कोई मतलब नही होनेवाला है। मैं साथ नही रहूगी, नही रहूगी, नही रहूगी! मैं हरजाई हू, छिनाल हू, वेसवा हू, पर मरते-मरते तुमसे कुछ कहने नही आऊगी। अन्त समय है। मेरी शान्ति मे तुम विघन मत डालो। तुम्हारा जहा मन लगता हो, धर्म के स्थानो मे, तीर्थों मे—जाके तुम भी शान्ति से रहो। और समझ लेना कोई शारदा थी तो वह मर गई।"

रामशरण सुनते रह गए थे। गुम और सुम अन्त मे बोले—

"तुम्हे मेरे साथ चलना है।"

"नही चलना है!"

"कहता हू, चलना है।"

"नही, नही चलना है।"

"नही चलना है—नही ही चलना है?"

कहते-कहते रामशरण तडित वेग से आगे बढे और शारदा के गालो पर जोर से चाटा जड दिया।

शारदा का गाल चाटे की चोट पर तमतमा आया। लेकिन उसमे क्रोध नही हुआ। वह झुझलाई भी नही। एक हाथ अनायास उसका अपने चोट खाये हुए गाल पर चला गया और मानो तनिक मुस्कराती हुई बोली, "साथ लाश को ले चलोगे? लाश सडेगी, काम न आयगी।"

रामशरण ने कहा, "मैं थूकता हू तुझ पर और तेरी लाश पर। बदजात, रडी!"

और सचमुच रामशरण ने हलक से थूक निकाल कर शारदा पर थूक दिया और तेज कदमो से मुडकर वह जीना उतरते चले गये।

शारदा ने धोती के पल्ले से अपना मुह पोछा। शीशा लेकर गाल की चोट का निशान देखा और सन्तोष की सास ली। जैसे बची हो और जीती हो!

जनवरी '६५

यथावत

जगरूप मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुआ। मनोरमा को यह सुनकर सुख हुआ। पर बहुत जल्दी वह चिन्ता में पड़ गयी।

मनोरमा एक प्राइमरी स्कूल में अध्यापिका है। महीने का उसे पचहत्तर रुपया मिलता है। इस कस्बे में एक हाई स्कूल भी है और वहीं से जगरूप ने मैट्रिक किया है। यह तो जैसे-तैसे चल गया। मनोरमा सोचती थी कि मैट्रिक पढ़ लेने के बाद यही किसी काम-धन्धे में लग लगा जायगा। उसने कुछ लोगों से इस बारे में कहकर भी रखा था। लेकिन उसे डर था। जगरूप पढ़ने में तेज था और मनोरमा को डर लगा रहता था कि अगर मैट्रिक में वह बहुत अच्छे नम्बरों से पास हुआ तो फिर क्या होगा? वह चाहेगा कि आगे पढ़े, शायद मास्टर लोग भी चाहेंगे। खुद उसके मन में भी यही होगा कि आगे पढ़े। पर यह आगे पढ़ना होगा कैसे?

अपने चारों तरफ देखती थी और यह डर उससे दूर नहीं होता था। बारह चौदह साल से इस कस्बे में अकेली रहती है और मास्टरी करती है। इसमें विशेष कठिनाई नहीं होती है और आसपास लोगों में उसके लिए अच्छे भाव हैं। पर उस सबसे तो कुछ नहीं होता। होता सब पैसे से है। और पैसे का सवाल आने पर चारों तरफ टोहकर मन उसका रुका रह जाता है।

जगरूप ने अपने पास होने की खबर खुशी खुशी अपनी मां को सुनाई। आगे के अपने अरमान भी बतलाए कि कैसे वह कालेज में जाएगा, बी० ए० करेगा, एम० ए० करेगा। और मां तुम कुछ फिकर न करो। सुनकर मां उस सलोने जगरूप को देखती रह गयी। बोलती

क्या ? फिक्र का पहाड मानो उसके सिर पर आ टूटा था। यही कही, कस्बे मे, काम-धन्धे मे, लग जाता तो चिन्ता मिटती। फर्स्ट क्लास पास हुआ है, तो उसका हक है कि कालेज की सोचे। कालेज यहा कहा धरा है ? और यह जाना चाहता है इलाहाबाद !

इलाहाबाद की जगरूप ने बडी महिमा बतायी थी। जरूर इलाहाबाद की पढाई ऊची और बढिया होती होगी। पर इलाहाबाद ?

यह सब भाव मनोरमा के देखने मे था। जगरूप कैसा होनहार लगता है। सच वह मा के सकट काटेगा। लेकिन इलाहाबाद ? वहा के कालेज की पढाई ??

उसने कहा, "मै आगे तुझे कैसे प॰ा सकती हू, बेटा ? बाहर तो खर्चा बहुत होगा।"

"खर्चा तो होगा मा। पर आगे की भी तो सोचो कि बेटा तुम्हारा ऊचा अफसर बनेगा और फिर कोई कष्ट तुमको नही होने देगा।"

उतने आगे की मनोरमा नही सोचती है, सो नही। कितना सुख होगा उसे कि बेटा अफसर होगा और मा घर मे राज करेगी। पर मन वहा जाकर ऐसे रमता है जैसे सपना हो। आख खुलने पर वह एकदम दूर हो जाता है और मालूम होता है कि उसका न सोचना ही अच्छा है।

"मै तो कर नही सकती हू ··वज़ीफे मे तेरा नाम नही आया है ?"

"नही, दो पोजीशन कम रह गए है।"

"और भी तो लोग वज़ीफे दिया करते है ? कोशिश कर देख।"

"वह तो कर रहा हू मा। लेकिन कहते हैं सिफारिश चाहिए।"

"तेरे मास्टर लोग सिफारिश नही कर देंगे ?"

"वह तो सब करने को तैयार हैं, लेकिन कहते हैं कि सिफारिश बडी चाहिए।"

"तो फिर ? अगले साल देखा जायगा। मैंने यहा उन फर्नीचर वालो मे कह कर रखा है। तीन-चार महीने तो काम सीखना होगा, फिर वे कुछ देने लग जायेंगे। ऐसे बहुत ही पढना चाहे तो पैसा जमा

करके आगे पढ भी सकते हो तुम ।"

जगरूप ने कहा, "अच्छा ।"

लेकिन मरे मन से यह 'अच्छा' उसने कहा था। मनोरमा न जानती हो सो नही, पर क्या कर सकती थी। सच पूछो तो वेटे का मन जितना गिरा था, उससे कही गहराई मे उसकी मा का मन जा पहुचा था। उसको अपनी वेवसी इस वक्त वहुत ही चुभ रही थी। अपना अतीत उसके लिए सव व्यतीत हो चुका था। पर इस हालत मे वही उखड-उखड कर उसके सामने आने लगा और उसमे से नाना सभावनाओ की चिनगारिया भी चमक देती हुई फटने लगी। पर वह संभावनाए जव थी, तव थी। अव तो सव सपाट हो गया है और आगे कुछ भी नही है ।

जगरूप 'अच्छा' कहकर वहा से चला गया था। मा मन मारे वैठी रह गई थी। अतीत उससे कट चुका है। जगरूप को उसे देकर वह स्वय मिट गया है। लेकिन क्या मिट ही गया है ? जगरूप के वाहर क्या उसका कुछ भी अव वर्तमान नही है। उसकी स्मृतिया जाती हैं और लौट आकर सिर्फ उसको मथ कर रह जाती हैं।

ऐसे दिन निकलते गए। जगरूप का हसना-खेलना वन्द हो गया। ज्यादातर घर से वाहर ही रहता। घर मे दीखता तो उदास और मलिन। वह मा से कुछ न कहता था। लेकिन एक-एक दिन वह गिन रहा था और उसकी निगाह मे वह तारीख थी, जो कालेज के दाखिले के लिए फारम जाने की अतिम तारीख थी। उसने चुपचाप फारम मगाकर वड़े सुन्दर अक्षरो मे भर कर अपने पास रखा हुआ था। वह निराश तो था लेकिन इधर भगवान का भरोसा भी उसमे होने लग गया था। भगवान सव कुछ कर सकते है। विलकुल हो सकता है कि एक दिन वह उठे और तकिए के नीचे उसे फीस के पूरे रुपये रखे मिल जाए ! क्यो नही हो सकता है ? जरूर हो सकता है। भगवान की कृपा से इससे वडी वडी वातें हुई हैं। यह तो भगवान के लिए एकदम जरा सी वात

है। भगवान का भरोसा उसमे इतना हो गया है कि तकिए के नीचे रोज टटोल लेता है। पर यह क्या जरूरी है कि रुपये तकिए के नीचे ही रखे जाए ? इसलिए दिन जाते-जाते वह इधर-उधर आले मे या खाट के पास या खाट के नीचे भी रुपए के लिए देखने लगा है। उसकी याद मे वह तारीख बराबर उभरती जा रही है कि जो दाखला फारम के लिए आखिरी है। उसे कभी होता है कि भगवान को तारीख की याद न रही तो कैसे होगा ? पर धत्, ये कैसे हो सकता है। भगवान मे भूल कैसे हो सकती है ? कमी भक्ति मे रहे तो दूसरी बात है। भगवान सब जानते है और सबके सहाय होते हैं।

मैट्रिक तक की पढाई कम नही होती है। इतने मे लडका अच्छी तरह जान सकता है कि भगवान कोई नही होते, कही नही होते। बल्कि यह ज्ञान तो उससे पहले भी हो जाना चाहिए। जगरूप को यह सब मालूम है। भगवान का भेद मालूम है कि ढकोसला है। उसका विषय विज्ञान है कि जिसके हाथ मे सृष्टि का रहस्य है। फिर भी भगवान क्यो नही हो सकते ? मान लो अगर हो, तो ? मतलब कि ठीक तारीख से पहले भगवान पर भरोसा रखने से वह चूकेगा नही। तारीख अकारथ गई तो फिर ते है ही कि क्या सच है, क्या झूठ !

जगरूप अपने मे रहने लगा। मा से कहने को उसके पास मानो अब कुछ बचा नही है। उसकी तकदीर अलग है और मा उसमे कुछ नही कर सकती।

मां इस सत्रह वर्ष के जगरूप को एकाएक पाती है कि वह उसकी समझ से बरबस बाहर हो गया है। उसका हाल ही नही मिलता। पहले सब तरह की शिकायते उसके पास लाया करता था और तरह-तरह के उलाहने। अब अपने मे समाया रहता है और जाने किस धुन मे रहता है। उसके अदर इस बात पर एक गहरी उदासी घर करती जाती थी। जैसे अदर से कुछ खोखला हुआ जा रहा है। जैसे बरबस उससे कुछ छीना जा रहा हो। उसने कहा— 'जग्गी, बेटा, इतने न हो

कुछ काम ही कर लो। मै कहू उन लोगो से ?"

"नही मा, भगवान कुछ अवश्य करेंगे।"

जग्गी बेटे ने उत्तर दिया और वह मा की उपस्थिति से झटपट अलग हो गया।

मनोरमा भगवान को मानती है। पर क्या वह सचमुच कुछ करते है ? अभी तक तो कुछ करते उसने उन्हे देखा नही है। जगरूप का, भगवान का भरोसा उसे अन्दर तक काट गया। उसे ऐसा लगा कि जैसे यह उसका भगवान का भरोसा सिर्फ इसकी घोषणा है कि मा का भरोसा तो अब किया नही जा सकता ! मनोरमा इस पर गहरी पीडा से भर आई और उसकी आखो मे आसू आ गए।

अकेली थी। आसू कब तक बहाती, किसके लिए बहाती ? अत मे हठात् और मानो व्यस्तता के साथ इधर की चीज उधर और उधर की इधर उठाने-धरने लगी। इसी मे उसने यह देखा, वह देखा, और अपने सब ट्रक-बक्स खोल-खोलकर बन्द करने लगी। अन्त मे एक ट्रक के आगे, उसकी चीजो-कपडो को उठाते-पटकते के बीच, वह वैसी-की-वैसी बैठी रह गई।

दो-चार, छ-आठ मिनट वह ट्रक का एक हाथ से पल्ला पकडे, सामने अधर शून्य मे टक बाधे बस देखती रह गई। उसकी सुध जाने कहा गई थी और वह समाधि मे हो आई थी। अन्त मे उसने ट्रक की तलहटी मे से एक कागज मे लिपटा और रेशमी रिबन से बधा पैकिट बाहर निकालकर अपनी गोद मे रखा। और फिर बेहद आहिस्ता और सभाल के ट्रक का सामान ट्रक मे चिन दिया। अब उसमे एक समाहित भाव था। मानो अधर मे पाव कही टिक आए हो।

जगरूप के आने पर मनोरमा ने कहा, "बेटा, दाखिला कब होता है ?"

जगरूप ने मा को देखा और प्रसन्नता से कहा, "क्यो, मा ?"

"कुछ नही, भागलपुर चलना होगा।"

"भागलपुर ?"

"हा, वखत देख के बता कि रेल कब-कब जाती है ? और ले यह जरा दो टिकट वहा के ले आ।"

जगरूप ने फिर मा को देखा। भागलपुर दूर जगह है और काफी खर्चा होगा। भागलपुर का कभी उसने जिक्र नही सुना है—फिर यह मा को क्या हुआ है ? लेकिन उसकी मा के चेहरे पर कुछ वह था कि जिसके आगे प्रश्न का अवकाश नही रह जाता है।

वह रेल मे जा रहा है और उसे कुछ नही मालूम है। मा चुप है और एक शब्द नही बोलती है। उसने बार-बार प्रश्न किया है और मा ने मानो सुना तक नही है। मा की दृष्टि स्थिर है और उसमे कोई गति नही है। जगमोहन अपने सामान मे फारम वगैरह लेता आया है। उसके मन मे है कि भगवान काम कर रहा है। भगवान के अजब ढग है। लेकिन मा को देखकर उसे सशय होने लगता है कि सब ठीक है कि नही। मा से एक भी शब्द पाना उसके लिए सभव नही हुआ है। यह सब उसके मन को हिला देता है। उसे आगे पढना है और जरूर पढना है। लेकिन मा को क्या हुआ है ?

भागलपुर गाडी बडे बेवक्त पहुची थी। रात को उतर कर मा-बेटे मुसाफिरखाने मे सो गए और सबेरे उठने पर मा ने कहा, कि बेटा तुम सामान के साथ ही सावधानी से रहना। यह पैसे लो, कुछ खा-पी लेना। मैं अभी थोडी देर मे आती हू।

मा की वही मुद्रा थी और जगरूप कुछ भी उनसे पूछ नही सका। पूरा दिन अभी नही निकला था और मा पाव-पैदल उसके सामने से बढती चली गई और वह उन्हे देखता सामान के साथ बैठा रह गया !

* * *

मनोरमा ने कुछ दूर चलने पर रिक्शा लिया और पूछती हुई वह सीधे भागलपुर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बंगले पर पहुची। वहा उसको प्रवेश तो मिल सका लेकिन मालूम हुआ कि साहब को डेढ-दो घटा लग

सकता है, अभी बैठना होगा। मनोरमा बरामदे मे जो स्टूल बताया गया, उस पर शान्ति के साथ बैठकर इन्तजार करने लगी।

आजकल अनिश्चित दिन है और शासन को कसा रहना पडता है। वर्मा साहब यू भी परायण और योग्य समझे जाते हैं। वह काफी सवेरे उठ जाते है और तैयार होकर मेज पर आ जाते हैं। आते ही एक कप चाय का लेकर दो ढाई घटे तक लगातार काम करते है। इस काम के बीच उन्हे व्याघात पसन्द नही होता। इसीलिए कहला दिया गया कि डेढ घटा लग सकता है।

लेकिन बीच मे घटी बजाकर अर्दली से उन्होने पूछा, "आए है जो साहब, बैठे है न? उन्हे कोई जल्दी तो नही है?"

"जी, नही बैठी है।"

"कौन? स्त्री है?"

"जी, हुजूर!"

"तो' अभी ज़रा बैठेंगी। माफी माग लेना...कहा बिठाया है? बैठक मे बैठेगी।"

अर्दली ने विशेप चिन्ता न की। और बरामदे मे स्टूल पर मनोरमा बैठी रहने दी गई।

थोडी देर डी० एम० अपना काम करते रहे। फिर हाथ उठाकर कुर्सी के पीछे टिके, अगडाई ली और एकाएक खडे होकर चले और अपनी बैठक मे आए। बैठक मे कोई न था। लौटकर उसी मेज पर आए और घटी दी। अर्दली के आने पर उसे उन्होने रोप से देखा और कहा, "उन्हे भेज दो!"

मनोरमा आकर झुकी और सामने की एक कुर्सी पर बैठ गई।

"कहिए, मैं क्या कर सकता हू आपके लिए?"

मनोरमा ने उठकर रेशमी रिबन से लिपटा वह पैकिट डी० एम० के सामने किया।

डी० एम० ने आभार मानते हुए पैकिट लिया और मेज पर एक

तरफ रख दिया और कहा, "सेवा वताइए—मैं क्या कर सकता हू ?"

मनोरमा चुप बैठी रही। वह गहरे असमजस मे थी। ऐसे एक-दो मिनट बीत गये। डी० एम० उसे देख रहे थे। उसने धीमे-धीमे कहना शुरू किया, "मेरा एक लडका है। सत्रह वर्ष की अवस्था होगी।"

डी० एम० देखते रहे। एकाएक वोले, "आप यही रहती हैं ? भागलपुर जिले मे ?"

"जी, नही। दूर से आई हू। लडका मैट्रिक मे फर्स्टक्लास आया है। आगे पढना चाहता है।"

डी० एम० देखते रहे। वह कुछ याद करना चाहते थे। याद मदद नही कर रही थी। अनायास वोले, "भागलपुर जिले की आप नही हैं?"

"नही।"

"तव तो· " कहते हुए, अनायास उनका हाथ पैकिट की तरफ वढा और खीच कर उन्होने उसे पास लिया। उगलियो से रिवन को खोलते हुए वोले, "इस जिले की होती तो शायद मे कुछ कर सकता था। अव निज निजी तौर पर कुछ दे भी सकू, ज्यादे इन्तजाम तो मुश्किल है।"

मनोरमा कुछ वोली नही। वह पैकिट को खोलती हुई डी० एम० की उगलियो को देखती रही।

"आपका शुभ नाम ?"

"जाने दीजिये · ।"

रिवन खुलने पर उन्होने कागज हटाया। उसके अन्दर फिर एक कागज की तह को हटाया। आखिर सवसे अन्दर की तीसरी कागज की तह को खोला और नीचे जो चीज निकली उसको क्षण ;एक देखते रह गए। मानो समझ न पा रहे हो।

मनोरमा ने उस निगाह को देखा। तेजी से उठकर वह गई और उसने दरवाजे की चटकनी अन्दर से वन्द कर दी। दूसरे दरवाजे को भी वन्द कर दिया। अव वह फिर अपनी कुर्सी पर आ गई वोली, "मैं मनोरमा हू।"

"मनोरमा ! · यह क्या है ?"

"अंगिया है।"

डी० एम० खड़े हो गए। बोले—"यह क्या बदतमीजी है ?"

उठकर वह खुद गए और देख लिया कि हां चटकनी बन्द है। दूसरे दरवाजे की भी बन्द है। वह फिर अपनी जगह पर आ गए और खड़े रह गए। अब उन्होंने मनोरमा को देखा—क्या सच, वह मनोरमा थी ! वह यकीन नहीं करना चाहते थे। उसके लिए काफी अवसर भी था। बोले—"यह क्या तमाशा है ?

मनोरमा ने धीमे से कहा—"मेरे पास इससे कीमती उपहार दूसरा नहीं था। यह वही फटी अंगिया है !"

"मनोरमा !"

"नहीं, मैं याद दिलाने नहीं आई। लज्जित करने भी नहीं आई हूं। उससे क्या मिलेगा—तुम्हें या मुझे ?"

"मनोरमा !"

"मैं तो जान-बूझ कर दूर हो गई थी। मा-बाप से और तुमसे। तुम्हारे साथ बंधकर तुम्हें रोकती और खुद को भी बोझ बनाती, क्या फायदा था उस सबसे। ··अब बेटा सत्रह वर्ष का है। जगरूप नाम रखा है। नहीं तो क्या, जग का रूप तो है ही। फर्स्ट क्लास आया है। आगे कालेज में पढ़ना चाहता है। मेरे पास इन्तजाम नहीं है। तुम्हें कष्ट न देती, पर वह बहुत पढ़ना चाहता है और "

"वह जरूर पढ़ेगा। जहां तक चाहेगा पढ़ेगा। ·पर तुम गायब कहां हो गई थीं मनोरमा ? मैंने बहुत याद किया।"

"किया ही होगा !"

"अब तुम क्या कर रही हो ?"

"नौकरी कर रही हूं, पढ़ा रही हूं।"

"तुमको दया नहीं आई मुझ पर ? कि·· "

"प्रेम में दया कब होती है ? तुम दया नहीं कर सकते थे, मैं दया नहीं

कर सकती थी। दया मे एक दूसरे को हम भरते नही, मारते ही रहते। वह कैसे हो सकता था। तुमसे नही हो सकता था—मुझसे नही हो सकता था। अब भी दया नही है जो मागने आई हूँ। जगरूप मेरा है, वैसे तुम्हारा है।"

"कहा है ?"

"स्टेशन पर छोड आई हू।"

"स्टेशन पर ? 'तुम कितनी वदल गई हो मन्ना !"

"नही, वदली नही हू। यह अगिया तुम रखोगे या मेरे पास रहने दोगे ?"

"मैं उस दुस्साहस की क्या अव माफी माग सकता हू ?"

"वही प्रेम की निशानी है। साहस नही जिसमे वह प्रेम होता भी है ?—लाओ, मुझे दो।"

मनोरमा ने उसी ऐतिहात से फटी अगिया को कागज की तीन तहों मे लपेटा और रिवन से वाधा। डी० एम० देखता रहा।

वस। ' और आगे कहानी की आवश्यकता नही है। कारण, जगरूप इलाहावाद कालेज मे पढने चला गया, और मनोरमा अपनी प्राइमरी कन्या शाला मे आ गई, और भागलपुर के डी० एम० अपने प्रशासन के काम मे व्यस्त रहे चले गए।

दिसम्वर '६४

विच्छेद

एक बुजुर्ग वहुत दूरसे आए हैं। सिर्फ इसीलिए आए है। परिवार के हितैषी है और जव सकट की वात सुनी तो उनसे रहा नही गया। दो-तीन रोज भी वडे वैचेनी से कटे। अत मे वायुयान से यहा आ पहुचे।

उन्होने एकान्त मे सविता से पूछा, "सवि ! तुम वहू हो, लेकिन उससे भी अविक मेरे लिए वेटी हो। सुनता हू वात जरा सी है, उसको मान जाती तो क्या हरज था ? तुम लोगो के परिवार की क्या जगह है, तुम जानती हो। वह टूटे, इसको कैसे वर्दाश्त किया जा सकता है। कहो, मेरी एक वात रख सकोगी ?"

सविता गुमसुम वैठी रही, वह कुछ न वोली। पैंतीस वर्ष की अवस्था होगी। दो वच्चो की माता है। कन्या का विवाह भी हो चुका है। फिर भी वह कुछ नही वोली।

बुजुर्ग कुछ देर तक उत्तर की राह देखते रहे। फिर आप ही वोले, "मैं जानता हूं, तुम्हे इस समय कितना कष्ट होगा। अवश्य कुछ गहरी वात होनी चाहिए कि तुम मान नही पाती हो। मैने सुना है, सारा परिवार असहमत है। तुम अकेली पड गई हो अपनी वात मे। जरूर उसमे कुछ सत् होगा कि तुम अकेली सवके सामने टिक सकी हो। लेकिन वेटा, घर की इज्जत वड़ी चीज होती है। उसमे मन को थोडा झुकाना पडे, तो इसमे कुछ हरज तो है नही। वल्कि इसी मे गृहिणी की शोभा है। हमारी भारत की संस्कृति पारिवारिक है। इसी से वह सव तरह की परिस्थितियो के इतिहास मे मे अव तक समर्थ वनी चली आई है। परिवार मजवूत नही है तो समाज आप ही विखरा हो जाता है।

पश्चिम का समाजवाद कुछ उनकी वहुत मदद नही कर पा रहा है। वह तो उद्योग-व्यवसाय का युग है और हमारे जैसे पिछडे देश उनके लिए मडी बनने को तैयार है तो ही वह समाज टिका हुआ है, नही तो आर्थिक एक भी धक्का वह सह नही सकता। क्योकि उन्होने व्यक्ति और समाज के प्रश्न के बीच मे परिवार को निर्वल बना दिया है। हरेक अगर अपने को माने और आजाद माने तो उस तरह परिवार की एकता कैसे रह पाएगी? मिलजुल के चलते हैं तो इसमे कुछ झुकना भी पडता है। इस झुकने मे तो वल्कि कृतार्थता है। क्योकि प्रकृति मे एक इसान ही है कि उसको गर्दन सीधी मिली है। अब यह उसकी सस्कृति है कि स्वेच्छा से वह उसे झुकाए ··।"

सविता सुन रही थी और उपदेश उसे अच्छा नही लग रहा था। बल्कि इस परिस्थिति मे दुत्कार उसे पसन्द आ सकती थी, और समझ भी आ सकती थी। वह अब भी कुछ नही वोली।

बुजुर्ग बोलते गये, "तुम्हारे स्वसुर की तुम्हे याद दिलाऊ। कितने वडे आदमी थे। सव उन्हे आदर्श के तौर पर मानते है। मैं तो जो हू, उन्ही का वनाया हू। सच बताओ, बेटी, क्या वात है?"

सविता अव भी कुछ नही वोली तो उन्होने हाथ वढाकर उसके सिर पर रखा और कहा, "वोलो, वेटी, बोलो।"

सविता का जी अव कुछ पसीजा। वोली, "कुछ नही।"

"ऐसा मुझे न कहो वेटी। कुललक्ष्मी के यही लक्षण हैं। घर की वात वह किसी तरह वाहर नही जाने देती है। लेकिन मुझे भी गैर मानकर वात करोगी तो कैसे होगा। कुनवे मे वड़े छोटे का लिहाज रखना हो सकता है। मेरे लिए वह वात नही है। केशव को मैं डाट-फटकार भी सकता हू। जानता हू, ऐसे मे अक्सर वीतती स्त्री पर है, दोष पुरुष का होता है। सौभाग्य की वात है कि अव तक केशव मेरा मान कुछ रखता है। वैसे वहुत हैकड है यह सच है, और मैं अनुमान कर सकता हू कि क्या कुछ तुम्हे सहना पडता होगा।···इसलिये तुम

खुलकर कह सकती हो, जो भी बात है !"

बुजुर्ग का हाथ फिर सविता के सिर पर चला गया था। वह सिर नीचा किये साडी के छोर को माथे के जरा आगे तक लाये बैठी थी और ऊपर की ओर नही देख रही थी। माथे पर उसके बडा-सा बिन्दा चमक रहा था।

सविता ने आहिस्ता से रूमाल से अपने को रोका मानो वह सुबकने के निकट आ गई हो। कोशिश से कहा, "कुछ नहीं।"

बुजुर्ग का भी जी भर आया। बोले, "इससे पहले मैंने केशव से बात कर ली है। मैंने कहा तो नही है, लेकिन अगर चाहो तो मैं उसे तुमसे माफी मागने के लिए कह सकता हू। उम्मीद है वह मेरी बात रखेगा। वैसे इतनी सी बात कि किशोर घर न आये और तुम साथ न जाओ, कौन ऐसी बहुत बडी है ? तुम्हारे बारे मे मेरे मन मे तो कभी सन्देह हो नही सकता। लेकिन कुल की आन के लिए ऐसा तुमसे आश्वासन चाहा भी जाए तो इसमे बेटी कोई बहुत बडी अपमान की बात तो है नही। मानता हू, इसमे अविश्वास है और अविश्वास मे अपमान भी थोड़ा-बहुत शामिल है ही। लेकिन अपवाद भी तो कोई चीज है! अविश्वास न भी हो तो लोकापवाद के कारण ऐसा चाहा जा सकता है। किशोर को थोडा मैं भी जानता हू। कोई ऐसा अनिवार्य आदमी तो वह है नही, तुम्हारी रुचि के योग्य भी किसी तरह नही है · "

इस स्थल पर आकर सविता एकाएक बोली, "मुझे घर मे निकाल क्यो नही दिया जाता जो ऐसे सताया जा रहा है !"

बुजुर्ग कहते-कहते झटका खाकर एकदम रुक गये। सविता का मुख ऊपर उठ आया था। आखो मे के भरे आसू अब तक पूरी तरह सूख नही पाए थे। लेकिन तो भी एक आवेश की रेख उन आखो मे दीखने लग गई थी। वह घबराये से बोले, "नही बेटी ! ऐसा अशुभ नही बोलते। कुललक्ष्मी के जाने से कही फिर कुल बचा रह जाता है क्या ? नही नही, शिव, शिव ! ऐसी बात मन मे भी कभी नहीं लाना। कौन

सता सकता है तुमको। मुझे कहो, मैं केशव को हर तरह सीधा कर सकता हूं। ...बस जरा कुल की लाज की बात है। उस बारे में बड़े लोग कुछ वचन भी तुमसे चाहें, तो उसमें तुम्हारी तरफ से तो मैं कोई कठिनाई नहीं देखता हूं।"

"वचन! कैसा वचन?"

सविता के माथे पर लाल बिन्दी समक्ष बनी बैठी थी। बिन्दी नहीं, बिन्दा ही कहना चाहिए। माथे का काफी भाग उसने घेर रखा था। उसका आवेश उस सुहागबिन्दु के प्रतिकूल नहीं मालूम हुआ। बोली, "कैसा वचन आप मुझसे चाहते हैं?"

बुजुर्ग ने कहा, "नहीं बेटी, नहीं। देखो, गलत नहीं समझा करते। तुम्हारे मन पर इसमें बीतती है, यह मैं देख रहा हूं। लेकिन अगर इतने से सबको आश्वस्ति मिलती है, तो तुम्हारा उसमें क्या जाता है?"

अब उन आंखों में किसी तरह का भीगापन नहीं रह गया था। बल्कि सख्ती आती जा रही थी। बुजुर्ग अनुभव कर रहे थे कि कहीं कुछ गलत हो रहा है। लेकिन मानो बात हाथ से निकलती जा रही थी। कुछ यह भी लगा कि इस तरह अन्दर की भभक निकले तो अच्छा ही है।

सविता ने कहा, "मैं घर में रहती हूं। घर से बाहर मेरी तो पहरेदारी नहीं है! जिसको चाहे बाहर से ही रोक दिया जा सकता है। मैंने उस बारे में कुछ कहा है? लेकिन यह मैं कभी नहीं कर सकती कि घर के अन्दर कोई आए और मैं आतिथ्य न दूं। जिसको यह घर नहीं चाहता है, उसको बाहर ही बाहर क्यों नहीं रोक दिया जाता है?"

"इसमें तुम्हारे मन पर दबाव आए, यह तो घर का कोई आदमी नहीं चाहता, बहू रानी।"

"फिर वे क्या चाहते हैं? रोक दें जिसे रोकना चाहते हैं। फिर मैं शिकायत भी करूं तो कहें। लेकिन आने खुद देते हैं, चाहते हैं मुझसे कि अनादर मैं करूं। यह नहीं हो सकता। किशोर हो कि कोई हो,

यह नही हो सकता। मैंने उन्हे नहीं बुलाया है। मैं माथ गई शुरू मे तो अपने से नही गई, भेजी गई तो गई। ' फिर मुझ पर क्या इल्जाम है, मालूम तो हो।"

"लेकिन सुनता हू, हठ तुम्हारी है कि अलग होगी..."

'हा है। लेकिन वह दूसरी बात है।"

"इससे उसका कोई सम्बन्ध नही है ?"

"ना ! कोई सम्बन्ध नही है। बल्कि इस अपवाद के कारण तो मुझे उल्टे रुकना पड रहा है। अब तक तो मुझे कभी का अलग हो जाना चाहिए था।"

बुजुर्ग यह सुनकर दुविधा मे रह गए। उन्होने सविता को देखा। उसके चेहरे पर मलिनता नही थी, कठोरता थी। जैसे क्षमाप्रार्थना न हो, अभियोग हो। दोष स्वीकार की जगह, दोषारोपण हो।

बुजुर्ग ने कहा, "सविता बेटी ! मैं समझ नही पा रहा हू, ठीक तरह से। किशोर की बात को मैं समझता था, जड मे है। लेकिन' "

"वह यही कहते थे आपसे ?"

"हा, केशव यही कहता था।"

सुनकर सविता ने कुछ नही कहा। थोडी देर मानो सोच मे एक-दम चुप बनी रही। फिर बहुत धीमे-जैसे मेरे सुनने के लिए न हो, उसने कहा, "तो ठीक है।" और कहकर ऐसी चुप हो गई कि मानो आगे किसी के लिए कुछ नही बचता है।

बुजुर्ग को भी ऐसा लगा कि बात चारो तरफ से सपाट कट चुकी है। अब सूत्र कही शेष नही रह गया है। तो भी हठात् बोले, "सविता ! मुझे इतना बताओ कि किशोर को अपने जीवन से तुम बाहर मान सकती हो ?"

उत्तर मे मानो रोप मे सविता ने अपने उन हितैषी बुजुर्ग की तरफ देखा। मानो अपने को उसे रोकना पड रहा हो। उसने कहा, "अपनी जिन्दगी मे मैंने लिया नही है और बाहर करने का सवाल नही

है। कह दीजिए उनसे, कि उनका हक है कि किशोर को या किसी को अपने घर से हमेशा के लिए बाहर कर सकते है और मैं इसमे कोई नही हू, और मुझे कोई एतराज नही है। इससे आगे—मुझसे कुछ न कहा जाए, आप भी न कहे।"

"तो वह तुम्हारी जिन्दगी मे नही है ?"

सविता ने सामने बैठे उन बुजुर्ग की आखो मे देखते हुए कहा, "आपने दुबारा पूछा है। दोबारा कहती हू, नही है।"

बुजुर्ग ठिठक रहे। फिर उबर कर बोले—

"तो यह सब क्या बखेडा है ? मैं केशव से कहूगा, सबसे कहूगा कि नाहक क्यो तूफान खडा कर रखा है ! बेटी, तुम घबराओ नही, सब ठीक हो जाएगा।"

सविता ने कहा, "क्या ठीक हो जाएगा ?"

"अपवाद यह जड मूल तक न रहेगा। और तुम्हारा मान पहली की तरह प्रतिष्ठित रहेगा।"

"मेरा मान !" कहा और धीमे से वह हसी। बेहद कड़वी वह हसी थी।

बुजुर्ग के मन मे वह हसी कौधती-सी चली गई। एकाएक बोले, "क्यो बेटा, सवि ! क्या बात है ?"

"कुछ नही।"

"क्यो, मैं तुमको कहता हूँ कि किशोर की बात जो अब यह साफ हो गई है तो तुम्हारी प्रतिष्ठा कुललक्ष्मी की तरह होगी और मैं इसका जामिन बनता हू।"

सविता खिलाखिला पडी। ऐसी तीखी बेधक हसी का सामना उन बुजुर्ग को कब करना पडा था ? बोले, "क्यो, तुमको विश्वास नहीं होता ?"

"उस सबकी आवश्यकता नही है, उपाध्याय जी। मुझको तो अलग रहना है।"

बुजुर्ग को सहसा क्रोध सा आया, "तो यों कहो कि जिद तुम्हारी है ?"

सविता ने कहा, "जी हां, यही कहिये कि जिद मेरी है ।"

"लेकिन क्यों ?"

"मुझे—कुछ नहीं ।" और कहकर उसने आंखें नीची कर ली ।

उपाध्याय जी को कुछ सवाल न मिल रहा था। वह मन में पूरा विश्वास लेकर चले थे । विश्वास का अधिकार भी था। कारण, परिवार के सब लोगों का उनके प्रति सम्मान का भाव था और वह निस्पृह हितैषी थे । उन्होंने केशव से बात की थी, उसकी माता से बात की थी, भाई से बात की थी और कहीं किसी तरह की अड़चन अनुभव न की थी । परिवार के सब लोग छोटे-मोटे स्खलन तक को दर गुजर करने के लिए तैयार थे । केवल आगे के लिए आश्वासन चाहते थे । किशोर का नाम लोकापवाद का कारण बन रहा था । सविता के सम्बन्ध में उपाध्याय जी को पूरा विश्वास था और वह मानते थे कि अवश्य कहीं गलतफहमी हुई है। किशोर में कोई विशिष्टता न थी । सविता परिष्कृत रुचि की महिला थी । सविता के पास आते समय उन्हें विश्वास था कि बात को सुलझते कुछ देर न लगेगी । सविता से मिलकर उन्हें विश्वास हो गया था कि किशोर की बात में ज्यादे दम नहीं है। सविता स्वाभिमानिनी है, इसलिये उखड़ सकती है। और फिर उसकी अटिगता को गलत समझा और समझाया जा सकता है। अवश्य यही बात हुई है। इसलिये यदि एक ओर से वचन पाने का आग्रह रहा है तो दूसरी ओर से वचन न देने का आग्रह बन आया है । इसी पर बस दोनों ओर से बात कसती गई है और टूटने का बिन्दु आपहुंचा है ।

लेकिन उस बात के बाद भी कुछ है, ऐसा उनको अनुमान न था । इसलिए पहले तो वह कुछ अचरज में रह गए, फिर जब उस दिशा में आगे बढ़ने की वहीं कोई राह न मिली तो उनमें आवेश हो आया । उन्होंने कहा, "जिद तो अच्छी चीज नहीं होती है, सविता बेटा !

केशव को मैं हर तरह से समझा सकता हू। बताओ न, ऐसा क्या है?"

"कुछ नही।"

"फिर भी, तुम्हारा यही निश्चय है कि साथ तुम नही रह सकती?"

"जी।"

उपाध्याय जी सुनकर अपने मे चुप और बन्द रह गए। अब उनमे दूसरे प्रकार के विचार आने लगे। मानो प्रश्न पारिवारिक और सामाजिक न हो, वह सस्कृति से कम और प्रकृति से अधिक सम्बन्ध रखता हो। कुछ देर वह अपने मे ही सोचते रह गए। फिर एकाएक बोले, "देखना सविता, शरम न मानना। तुममे मार-पीट तो कभी नही हो जाती?"

सविता चुप रह गई। बोली कुछ नही।

उपाध्याय जी के मन मे सहानुभूति जगी। बोले—"ऐसा हो तो भी घबराना नही चाहिए बेटा। प्यार में ही ऐसा हो पाता है। नही तो हममे मे शिष्ट कौन नहीं है, और कौन अशिष्ट शब्द तक बोल पाता है? समझती तो हो बेटी।"

सविता चुप सुनती बैठी रह गई।

उपाध्याय जी कुछ रुके, फिर बोलते गए, "जिन सम्बन्धो मे कही कोई तीसरा नही आ सकता है, वहा फिर व्यक्ति का कुछ भी पीछे नही रह जाता है, खोटा-खरा सब कुछ सामने आ जाता है। पति-पत्नी सम्बन्ध वही परिपूर्ण सम्बन्ध है। इसमे निर्लज्जता मे भी लज्जा नही लगती है। दोनो परस्पर मुक्त हो आते हैं। एकदम नियमो से ऊपर। आदमी इसमे असभ्य बने तो भी उसे चिन्ता नही होती है। यह अधूरा नही, पूरा सम्बन्ध है। और इसलिए उसे सहारना आसान नहीं है। बडी परीक्षा का काम है। विवाह का धर्म सबसे कठिन धर्म इसीलिये है। ब्रह्मचर्य और सन्यस्त इसीलिये गृहस्थ आश्रम के मुकाबले खेल जैसे हैं। सविता बेटी, तुमको कहता हू, कि इससे बडी वैतरणी दूसरी

नही है। इसे जो तिर सका, उसके लिए फिर कोई संतरण बडा नही रह जाता है। पति-पत्नी एक दूसरे को चाहते है, यह तो सब जानते हैं। लेकिन उससे सच यह है कि वे एक दूसरे को सहारते सहते हैं। अपना निकृष्ट तो वे कही और समाज-ससार मे जाकर डाल नही सकते, सो उसका वे एक दूसरे पर फेंकने को मजबूर होते है। यह तो सविता बेटा, इस सम्बन्ध का वरदान है। इसमे घबराना नही होगा। सुनती हो न? घबरा कर उस सम्बन्ध को तोडना नही होगा। क्यो, बेटी सविता?"

सविता चुप बनी रही।

उपाध्याय जी उस मौन के अर्थ का कुछ अनुमान न कर सके। बोले, "तो मैं अब समझू न कि सब ठीक है?"

सविता अब भी चुप रही।

"क्यो बेटी? इतनी आश्वस्ति मुझे नही दे सकती हो?"

"मुझे साथ रहना नही चाहिए, यह धर्म के विरुद्ध होगा।"

"धर्म के विरुद्ध?"

"जी।"

"मैं उपाध्याय हू। धर्म मैं भी कुछ जानता हू। विच्छेद धर्म नही है।"

सविता ने ऊपर देखा। बिन्दी भाल के बहुत भाग को घेर कर लाल लाल दमकती वहा बैठी थी। उपाध्याज जी की आखो के बिल्कुल सामने वह रक्ताकार बिंब बड़ा होता चला गया। जैसे नया उगता पूनम का चाद हो।

सविता ने कहा, "मै पत्नी हू। मुझे धर्म पत्नी होना चाहिए। उस धर्म को समझना मेरा धर्म है और मै आपको कहती हू कि साथ रहना अधर्म होगा। मैं साथ नही रह सकती।"

उपाध्याय जी एकाएक बोले, "सविता!" उस सम्बोधन मे मानो क्या कुछ नही था।

पर सविता चुप की चुप बैठी रह गई। मानो धर्म का निर्णय हो चुका था और अब आगे कुछ शेष नही बचता था।

उपाध्याय जी ने बहुतेरा बल अन्दर से खीचा। धर्म का, नीति का सहारा लिया। चाहा कि कुछ कहे, बोले, समझाए। लेकिन सामने मानो अत्यन्त मौलिक अनुलघनीय कुछ था जिसका स्वीकार ही हो सकता था। वह क्या था कि जिसमे मैल न था, मान न था, पर सत्ता थी, सत्यता थी!

तो भी जोर लगाकर, सोचते हुए-से उपाध्याय जी बोले, "केशव मे कुछ दोष है ?"

सविता नीचे देखती चुप ही रही, बोली नही।

"लज्जा न करना, बेटा! सब उपाय हो सकता है।"

सविता ने अब ऊपर देखा। स्थिर वाणी मे कहा, "आप परिवार के हितैषी हैं, पूज्य है पर पत्नी के धर्म मे पति का विचार नही है, धर्म का ही विचार है। धर्म परिवार से ऊपर होता है। माफ करें, साथ रहना न होगा।…मै जा सकती हू ?"

अक्तूबर '६४

मुक्त प्रयोग

'लिवरेटेड माइंड !'

शेइलेन (शैलेन्द्र) ने ऊपर उठते हुए सिगरेट के धुए को देखा। वह देर से सिगरेट लेकर धुए को इसी तरह देखते हुए रेस्तरां में बैठा था, सिर्फ पानी के गिलास के बल अपने को सम्हाले रख रहा था। भीतर से वह सूना था और आसपास कई बार आकर घूमते हुए बेटर को देख कर भी उसने मीनू के शीट पर से कुछ आर्डर नहीं दिया था। पानी पीता, फिर सिगरेट पीने लगता, सिगरेट पीता और फिर पानी का सिप लेने लगता। इसी समय मालूम हुआ कि सिगरेट के धुए के ऊपर से होकर जैसे हवाई भाप से बने बादल के खण्ड-सा कुछ उसके सामने अधर में तैर आया है। वह कुछ धुंधला है, कुछ उजला है। पहले उसे अजब लगा। फिर उसने पहचाना कि ओह, वह तो उस का अपना ही है लिबरेटेड माइंड !

शेइलेन मामूली युवक नहीं है। अवस्था तीस वर्ष की होगी। लेकिन वय से अधिक विश्वस्त है। अपनी प्रतिभा को जानता है और साधारण को नापसन्द करता है। ख्याल उस के ऊंचाइयों में रहते हैं और वह किसी तरह का बंधन या कर्त्तव्य आसपास पसन्द नहीं करता है।

ऊपर अधर में तैरते हुए उस लिबरेटेड माइंड को उसने कनखियों से देखा और मन ही मन कुछ कुढ़ा। उस कुढ़न में कड़वाहट थी। उसे कल की शाम याद आई, जब उसके साढ़े तेरह रुपए एक साथ खर्च हो गए थे। साढ़े बारह का बिल, एक रुपया टिप ! दो उसके साथी थे और एक हजरत जो माने हुए लेखक मान लिए जाते हैं। असल में तो वह शाम उन्हीं के लिए बनाई गई थी और वहां उसने एकाएक यह

लिबरेटेड माइड ऐसा चलाया था कि लेखक महाशय सकपकाए-से रह गए थे। तब यह शब्द उसे स्वय गर्विष्ठ प्रतीत हुआ था। पर उस शाम के बाद आगे के लिए कुल जमा साढे सात रुपए उसके पास बचे रह गए हैं। बस यह पूजी है, वह है, और आगे की सारी जिन्दगी है। सवेरे से उस ने एक भी पैसा खर्च नहीं किया है। दिन मे खाना नही खाया है, पाव-प्यादे घूमा किया है, और रेस्तरा मे आकर भी पानी से आगे नही बढा है। वह कुछ हैरान है कि लिबरेटेड माइड 'लिमिटेड पर्स' के साथ ही क्यों हुआ करता है? यही आज की समाज-व्यवस्था के खोखलेपन का प्रमाण है। या माइड ही तो कही 'लिमिटेड' नही रह गया है? सम्भव है कि नीति-अनीति, पाप-पुण्य जैसी चीजे भीतर मे कही दुबकी रह गई हो! नही तो चतुराई से पैसा बराबर आते रहना चाहिए। लिबरेटेड माइड के पास बटुआ अवश्य 'अन-लिमिटेड' चाहिए" सोच कर वह मन ही मन फीकी हसी हसा। लेकिन उसने सतोषपूर्वक याद किया कि कल लेखक महाशय किस प्रकार एकाएक पिटे-से रह गए थे।

सात वर्ष पहले शेइलेन कालेज मे प्राध्यापक बना था। उसकी योग्यता की धूम थी। हाल मे ऊची शादी हुई थी। लोग सराहने से अधिक उसके भाग्य पर ईर्ष्या करते थे। लेकिन जल्दी ही उसे मालूम हो गया कि यह सब सार नहीं है। दो साल के अंदर पत्नी से बिलगाव हो गया। अध्यापकी छोड दी गई और कलम की नोक से सबको सुधारने और इस-उसको फटकारने का काम उसने शुरू कर दिया। उसे निश्चय हो गया था कि दुनिया चाबुक के ही लायक है। दुनिया ने सचमुच इसमे मजा भी लिया, लेकिन एवज मे काफी पैसा नही दिया। परिणाम, शेइलेन को मालूम होता चला गया कि दुनिया फरेब है, मक्कारी पर तुली है। पैसे वाले बडे लोग ठग और बेईमान हैं। और उस श्रेणी की स्त्रिया रूप-जीवी है। कोई डेढ-दो वर्ष तक उस का यह प्रयोगात्मक जीवन चला। बाद मे शेइलेन के श्वसुर ने एक स्थान के लिए सिफारिश की, तो विरोधपूर्वक शेइलेन ने वह जगह स्वीकार कर

ली। बडी कम्पनी थी, वेतन ऊंचा था। पर शनै. शनै पुन. सिद्ध होने लगा कि आत्मा के साथ, नही-नही, अपने गर्व और गौरव के साथ, समझौता नही किया जा सकता। व्यवस्था यह मनमानी है, समाज कृत्रिम है और अधीनता किसी स्वाभिमानी को सह्य नही होनी चाहिए। यह नौबत आने के आसार प्रकट हो ही रहे थे कि पत्नी अपने पिता के पास लौट गई थी और अपने डेढ वर्ष के पुत्र की ओर देखते हुए, पिता की सहायता से, उसने रेडियो मे नौकरी कर ली थी। इस सुयोग के साथ शेइलेन का जीवन कुछ समय के लिए खूब उत्कट हो कर चमका था। मानो अंदर की शक्तिया खुल खेलने पर तुल आई हो और वह अकेला सबका सामना ले सकता हो। कम्पनी के चेयरमैन से वह उलझ पडा और उन्हे खरी-खरी सुनाने से नही चूका। वहा से छुट्टी पा कर मानो सत्य का ही एक अवलम्ब उस ने अपने लिए रख छोडा। लिहाज-मुलाहिजे नाम की चीज को उसने सर्वथा खत्म कर दिया। उसने तय किया कि समझौते के विना उसे रहना है। प्रण बाधा कि वह ऐसे रह कर दिखा देगा। यहा सब अकेले ही तो है। यो जिसके साथ एक कप चाय पी, वही अपना साथी है। दो पैग साथ हो गए, तब तो वह साथी अभिन्न ही हो जाता है। इस तरह नौकरी छोडने के बाद दोबारा उस ने सिद्धानत प्रयोगमुक्त जीवन आरम्भ किया।

मानना ही पड़ता है उसकी कलम के जोर को। अंग्रेजी तो मानो उसके लिए मातृभाषा है। सब उसका सिक्का मानते हैं। पीछे चाहे जो कहे, सामने तो रास्ता ही देते चले जाते हैं। यह प्रयोगशील जीवन उसे इस बार फला नही, यह नहीं कहा जा सकता। उसकी मित्रताए, उसका परिचय, सभी वर्गों मे फैला है। सदा वह अच्छे लिबास मे देखा जाता है। खर्च मे भी हाथ खुला दीखता है। अभिजात रेस्त्राओ मे अभिजात वर्ग के साथ आप अक्सर उसे पा सकते है। इस दूसरे प्रयोगकाल की ही बात है कि दूसरा विवाह हुआ। रस्म अच्छी आई, पर विवाह टिका नही। उनकी अपनी बात माने तो पत्नी पसन्द न

थी। खैर, वे चर्चाए दब गई हैं। लेकिन जिन दिनो खूब चलती थी, तब भी शेइलेन उस कारण किसी ओर से मद नही दीखता था। अब तो वह और जोरो पर है। बौद्धिक क्षेत्रो मे प्रवेश से भी अधिक उस का प्रभाव है। लाग उससे दबते और रोब मानते है। कारण, वह हर समय मानव-जाति के अत करण का प्रतिनिधि होकर साफ-साफ कहने को उद्यत रहता है और झूठी विनय के चक्कर मे नही पडता। परिणाम यह कि वह ख्यात होकर भी पुरुषो मे एकाकी है। प्रिय और अभ्यर्थनीय है स्त्री-वर्ग मे।

शेइलेन ने बटुआ निकाल कर देखा, वही ठीक साढे सात रुपये थे। बटुआ बन्द कर उसने जेब मे रख लिया। टिन मे से नई सिगरेट निकाली, पहली वाली से छुला कर सुलगाई, और गहरा कश खीचा। फिर अलस आराम के साथ पहली सिगरेट को घिस कर बुझाया। अब कलाई की घडी देखी। साढे छ से दो मिनट ऊपर हुए जा रहे है। उसको झल्लाहट हुई। मानो वह अपने तिरस्कार से विश्व को तोड़ डालेगा। उसने क्रोध मे निगाह उठा कर दरवाजे की ओर देखा। देखते ही निगाह हटा ली और वह कुछ मुसकराया। उस ने अनुभव किया कि रेस्त्रा के इस बिल्कुल सूने कोने-किनारे को चुन कर उसने ठीक ही किया था।

द्वार मे से प्रवेश लेकर ठिठकी खडी युवती ने हाल मे इस-उस मेज पर चारो ओर देखा। अनेक निगाहो ने उठकर उस की ओर निहारा। लेकिन उनमे वह परिचित निगाह न दीखी, जिसकी उसे तलाश थी। अन्त मे उसका ध्यान कोने की ओर गया। अवश्य वह शेइलेन है। लेकिन ऐसा बेभान और बेमन और अनुत्सुक! युवती तेज चाल से बढती हुई वहा पहुची। बोली—"हलो!"

शेइलेन ने आवाज़ सुन कर निगाह सामने की। तनिक मुस्करा कर पहचाना और सिगरेट के रुके कश के धुए को होठो के परले किनारों से धीमे-धीमे करके छोडा, कुछ कहा नही।

युवती बोली, "यह क्या बात है ?"

"बैठो।"

"आज यह क्या है ? बड़े ऐसे-वैसे दीख रहे हो।"

"हां! दावत मेरी ओर से है। है न ? लेकिन मेरे बटए में कुल जमा साढे सात रुपये बचे हैं।"

"बस ? यह कोई नई बात तो नही है।"

"नई नही है। लेकिन कल साढे तेरह रुपये एक को उल्लू बनाने मे लग गए। मजा तो आया। लेकिन उतनी रकम के लायक वह न था।"

"कौन था ? तुम्हारा शिकार नामी होता है।"

"छोडो, छोडो' 'यह लो, (मीनू सामने करते हुए) आर्डर तुम्हे देना है।"

आगता ने मीनू के शीट पर सरसरी निगाह दौड़ाई और खासा आर्डर दे दिया। फिर बोली—"सच कहो, ऐसे कब तक रहने की सोचते हो ?"

"क्यो, इस रहने मे क्या कमी है ?"

"रुपए की कमी नहीं हो जाया करती है ?"

"ओह! रुपया तो खेल है। क्या उसकी कमी, क्या ज्यादती। और तुम जो हो।"

"अपने ही लिए तो कहती हूं। बोलो, क्या सोचते हो ?"

"तुम जानती हो, मैं शादी का आदमी नहीं हू।"

"लेकिन ऐसे मैं कब तक खर्च करती जा सकती हू ? विवाह हो तो मेरा सब तुम्हारा है। नहीं तो…"

"तुम्हारा मुझ पर खर्च करना, मैंने कहा न था, सही नहीं है। किसी आशा मे ऐसा करना और भी गलत है।"

"यह तुम कह रहे हो ? सोचो कि अब हमारे बीच बाकी क्या बचा है! विवाह की ऊपरी विधि की ही तो बात है।"

"इसीसे विधि की जरूरत नही रहती है।"

"मुझे कुछ हो गया तो ?"

"विवाह के बाद होता है, तब सबको खुशी होती है। विवाह के बिना और पहले हो, तो खुशी की बात क्यो नही है ? सच कहो, कुछ है ?"

"नही, नही, अभी नही ! लेकिन "

"लेकिन की फिक्र क्यो करती हो ? तुम ने तो मुझे डरा दिया !"

"तुम डरते भी हो ?"

"डरूगा नही ? तुमसे नही डरूगा ? भगवान के डर से इसीसे बच पाता हू कि तुम लोग भी हो ! (सिगरेट देते हुए) लो, पिओगी ?"

"ना, नही ! अच्छा लाओ !"

दोनो सिगरेट पीते है, और कुछ देर कोई नही बोलता। प्रकट है कि स्त्री को सिगरेट का अभ्यास बहुत कम है।] एक कश लेती है कि फिर देर तक सिगरेट उगलियो के बीच मे ही टिकी रह जाती है, दुबारा जल्दी नही उठती। शेइलेन 'चेन स्मोकर' है। वह जाने कहा देख रहा है। आगता ने अपनी ओर आते हुए धुए को हाथ से हटाया और शेइलेन की निगाह अपनी तरफ खीच कर कहा—"मैने एक बात पूछी थी, तुम ने बताई नही।"

शेइलेन ने जरा उसे देखा और मुसकरा कर फिर निगाह उसी तरह छत की ओर उठा ली, बोला नही।

युवती ने साग्रह कहा, "बताओगे नही ?"

शेइलेन ने सिगरेट का अतिम भरपूर कश खीचा और उस के सिरे को ऐश-ट्रे मे कस कर रगड दिया। कहा, हम तुम क्या "सशरीर एक दूसरे के लिए काफी नही हैं ? अतरात्मा मे भी उतरने की जरूरत रह जाती है ?"

"अगर तुम कही भी और प्रेम करते हो तो मै कुछ नही कहूगी।

शादी का सवाल नहीं करूंगी। लेकिन…"

"प्रमिला, प्रेम अच्छा है तो क्या एक भर के लिए ही अच्छा है ?"

"बड़े बेहया हो जी, तुम !"

"मुझ पर से दो ब्याह बीत चुके और टूट चुके हैं। इस से ज्यादा और क्या तुम्हारी आंखें खोल सकता है !"

"इसी से मेरा निश्चय है कि यह ब्याह होगा और नहीं टूटेगा। मैं सब जैसी नहीं हूं। मेरा इम्तहान ही है यह विवाह। इसीलिए तो सामने आती हूं कि मुझे भी देखना है, वह क्या है, जिसके कारण तुम इधर से उधर भागते हो। वे औरतें अनजान रही होंगी। मैं…"

"तुम जानती नहीं हो विवाह को। वह घेरे में बंधना है। तुम क्यों बंधना चाहती हो, मैं यही नहीं समझ पाता। इसीलिए कि बताने को कोई बच्चे का बाप पास क्या हाजिर रहे !"

"देखती हूं, तुम बाप बन सकते हो, रह नहीं सकते। क्यों यही न ?"

"प्रेम में अगर प्रकृतिवश कोई पिता बन जाता है, तो इसमें समाज का क्या इजारा है ? लेकिन समाज की खातिर चाहा जाता है कि एक बाप घर के जूए में जुता हुआ मौजूद रहे ! छोड़ो…छोड़ो, यह सब ढकोसले हैं और तुम इस कदर खूबसूरत हो कि…"

कह कर उसने सम्मानपूर्वक आगता का हाथ उठाया और अपने सामने मेज पर रख लिया। उस पर फिर अपना हाथ रख कर दबाया, फिर दबोचा, कहा, "यू आर वन्डरफुल, प्रमिला ! (तुम विलक्षण हो प्रमिला !)"

मानो प्रमिला ने कुछ अनुभव नहीं किया। वह उसी तरह स्थिर बैठी रही।

इतने में आर्डर का सामान लिए आता बैरा दीखा। हाथ मेज से हट गए और बातें उस घनेपन के स्तर से अलग था गईं।

खाने-पीने के बीच में प्रमिला ने पूछा, "तुम्हें कितने पैसे मी

जरूरत है ?"

"तुम से—ढाई सौ मासिक ।"

"यह तो तुम्हारे लिए कोई बडी रकम नही है । सुनो, कुछ काम क्यो नही कर लेते ।"

"बेवकूफ न बनो । वह नही हो सकता । जिस पाखड को ढाना है, उसी को सिर पर लू ?"

"तो फिर ?"

"देखो, प्रमिला, जानता हू तुम्हारे पास पैसा है । लेकिन तुम जा सकती हो । मै समझता था, तुम्हारे पास दिमाग है, और वह आजाद है । पैसे से ज्यादा मेरे नजदीक उसकी कीमत है । लेकिन वह चीज तुम्हारे पास नही है तो अपना पैसा लेकर यहा से रुखसत हो सकती हो ।"

"तुम ने ढाई सौ मासिक कहा । यही न ?" कह कर अजब व्यग से वह हसी, "और वह सब तुम मुझ से लोगे, क्यो ?"

"नही एक पैसा नही लूगा । इस आर्डर के सामान का भी नही ।"

"बिगडो नही · हा, एक मुझ से तुम सब चाह सकते हो । सब तुम ने लिया भी है । लेकिन "

"फिर वही विवाह—यही न ?"

"वह तो निश्चित ही है ।"

"तुम शायद रसम को विवाह मानती हो । मेरे लिए मन का विवाह असली है और उसे ही बेमन ढोने-टिकाने की जरूरत भला क्यो ।"

प्रमिला ने शेडलेन को देखा । कुछ देर जम कर देखती रही । फिर बोली—"यू आर ए चीट एण्ड ए स्काउन्ड्रल । (तुम एक धोखेबाज और आवारा आदमी हो ।)"

शेडलेन ने सुन कर तत्काल प्रमिला की उगलियो को लिया और गर्दन नीची करके जल्दी से चूम लिया । कहा, "थैंक यू !"

प्रमिला हस पडी । बोली, "तुम्हारी यही अदाए तो···जीत जाती हैं ! बट यू आर ए लोफर आलराइट ।"

"हजूर, यह नाचीज क्या है, अपनी मालिका का खाकसार खादिम है।"

"लेकिन सुनो, ब्याह से पहले अब एक पैसा नही मिलेगा।"

"कैसे नही मिलेगा प्रमिला! तुम मिलोगी तो सब कुछ मिलेगा।"

"तुम सोचते हो मैं बेवकूफ हू?"

"खुदा का खौफ करो, गजब की खूबसूरत हो!"

"हटो, तुम्हारी पैसे पर निगाह है।"

"अजी,—निगाह तो आप पर है। आपके आचल मे पैसा है, तो उसमे मेरा क्या कसूर?"

"अच्छा वादा करो, किसी और से मुहब्बत नही करोगे!"

"दोनो शादियो मे वादा किया था। वादा वही बधा रहता तो इस मुहब्बत की नौबत कैसे आती, मेरी प्रमिला! वह सब छोडो। गाडी लाई हो? चलोगी? चलो, ओखला चलें।"

"फिर वही…"

"देखो, भूखे को क्यो मारती हो? तुम्हारी कसम, सवेरे से मैंने कुछ खाया नही था। अब जरा पेट भरा है तो…"

"बडे ढीठ हो!"

"आपकी दुआ है।"

प्रमिला का परिचय पाने की आवश्यकता नही है। उस ऊँचे घराने को दिल्ली के लोग जानते हैं। कहानी मे भी परिचय देने का अवकाश नहीं है। कारण, खाना-पीना चल ही रहा था कि बीच में ही शेख़लेन झटपट मचाकर बोला, "यह सब रहने दो, उठो।"

"क्यो, ऐसी क्या घबराहट है!"

"वह कम्बख्त बुर्जुग बाहर दीख गया है, कही आ न धमके। जल्दी करो, नही तो सब मजा किरकिरा हो जाएगा। कसम खुदा की तुम तो आज वह बनकर आई हो कि…"

हाथ पकड़ कर उठाया तो प्रमिला उठती चली आई। फिर चुपचाप

गया और फिर दोनो जने हाथ मे हाथ डाले तेजी से रेस्तरा से बाहर निकल गए।

हम रेस्तरा मे ही बैठे है। यह समा और यह शाम। ओखले के लिए मौका बुरा नही है। लेकिन आप मनाइए कि कहानी कहने वाले के पास भी खासी नई ऑटोमोबाइल हो, और वह इस तेज जिन्दगी के साथ लपकता जाए और कहानी के आगे के मोडो की भी खबर आप को दे सके। तब तक के लिए कहानी को यही समाप्त मानना होगा।

●

अगस्त '६३

कष्ट

शैलेन्द्र को विस्मय हुआ जब देखा कि टेलीवीज़न के सबसे बड़े अधिकारी उसकी छोटी-सी बैठक में चले आ रहे हैं । उसको और भी विस्मय हुआ यह सुनकर कि एक बड़े महत्वपूर्ण परिसंवाद में उसे भाग लेना है और अभी साथ चलना है । अधिकारी का व्यवहार बहुत अभ्यर्थनापूर्ण था और वह कृतज्ञ थे कि शैलेन्द्र ने उनका अनुनय अस्वीकार नहीं किया है ।

"असुविधा के लिए क्षमा कीजिएगा । लेकिन…"

"जी नहीं । जी नहीं…।"

"यह अनाचार है कि समय भी आपको नहीं दिया जा रहा है । लेकिन विदेश से जो मेहमान आए हैं उनकी पहले खबर न थी । वे अपने समवयस्क बन्धुओं से टेलीवीज़न पर चर्चा करना पसन्द करेंगे । बताइए आपको छोड़ हम कहाँ जाएँ ? इसलिए यह कष्ट है । मैं फिर क्षमाप्रार्थी हूँ ।"

"जी नहीं ।… जी नहीं ।"

स्टूडियो पहुँचे तो शैलेन्द्र और भी विस्मित हुआ । देश के बहुत ही नामी एक साहित्यकार वहाँ मौजूद थे । साथ ही एक ऐसे सज्जन थे जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी । शैलेन्द्र देखकर कुछ सकुचा हुआ । लेकिन तभी उसने अपने में गर्व का भाव आता अनुभव किया, लेकिन अतिरिक्त शिष्टाचार से उसने सब लोगों से हाथ मिलाया और चर्चा में सम्मिलित हो गया ।

वह विश्वास न कर सका कि उसके भीतर वह प्रतिभा [illegible] बैठी थी । उसने स्पष्ट अनुभव किया कि चर्चा में वही हो सकता [illegible]

है। स्वय टेलीवीजन पर जिस शालीनता से उसने व्यवहार किया वह मानो दूसरो को फीका कर देता था। चर्चा काफी फैली और काफी गहरी भी गई। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज कोष उसने छुआ और मन के गहरे भेदो का भी भेद लिया। उस सब मे शैलेन्द्र ऐसा तैरता हुआ पार चला गया कि उसके साथियो को भी अचरज था।

कार्यक्रम पूरा होने पर सबको एक कमरे मे ले जाया गया जहा उपहार की व्यवस्था थी। वही उससे एक फार्म-रसीद पर दस्तखत कराया गया और दिलचस्प हल्की-फुल्की चर्चा होती रही। रेडियो के कुछ अन्य ऊचे अधिकारी उस समय साथ थे और वातावरण अपनी हल्की रगीनी मे उडता हुआ मानो सबको ऊचा ले जाने वाला था। शैलेन्द्र को बडा अच्छा लग रहा था। उसने घर की उदासी और निराशा को याद किया जो अब एकदम उपहास्य बन गई थी।

वह देखता था कि विदेशी अमरीकी सज्जन लम्बे और ऊचे है। रूसी बन्धु उतने ही छोटे कद के हैं। दोनो के अग्रेजी के उच्चारण भी अनमिल है। दोनो मानो शैलेन्द्र को लेकर सम होते है, नहीं तो परस्पर विपम बने रहते है। दृष्टिकोण दोनो के अलग, व्यक्तित्व अलग। वह बातें करता जाता था और रह-रह कर दोनो को देखता जाता था। डील-डौल के लिहाज़ से रूसी बन्धु तगड़े ढग से खा रहे थे और अमरीकी धीमे-धीमे ग्रास उठा पाते थे। देखकर उसको तटस्थ आनन्द हो रहा था और वह चाहता था कि अमरीकी विद्वान इतने गम्भीर न रहे।

फिर उसे ठीक-ठीक पता नहीं कि क्या हुआ। शायद वहा से उठ कर वे लोग एक-दूसरे कमरे मे ले जाए गए। शैलेन्द्र लोगो के ध्यान का केन्द्र था और विदेशी लोग अब उससे बिछुड चुके थे। पर देसियो की तो भीड थी। नाना प्रकार के नाना लोग उससे बात करना चाह रहे थे। तरह-तरह के प्रश्न होते और वह अपने उत्तरो से एक चमत्कार पैदा कर देता था। इसी समय उसके सामने एक मोटा सा लिफाफा

लाया गया। खोलने पर उसमे बिल्कुल नये दस-दस रुपये के नोटो की ऊँची-सी गड्डी थी जिसके ऊपर उसी तरह के कई पाँच-पाँच के नोट रखे हुए थे। धीरेन्द्र ने उन्हे लिफाफे से निकाल कर उसी तरह वापस लिफाफे मे रख दिया और लिफाफा वही मेज पर रहने दिया। वह लोगो से बात करता जाता था और लिफाफे की तरफ ध्यान नही देना चाहता था। फिर सहसा उसने लिफाफा लिया और नोट बाहर निकाले। वह देख रहा था कि उसके आस-पास के लोग जल्दी-जल्दी बदलते जाते है। शायद कमरे मे भीड़ है और दूसरो को अवसर देने के लिए थोड़ी बात-चीत करने के बाद पहले वाले हटते जाते है। उसने नोटो को गिना, पहले पाँच वालो को, फिर दस वालो को। गिनते समय वह याद कर सकता था कि वह लोगो के प्रति असावधान तो नही बन रहा है। उगलिया गिनती जाती थी और मुह बात करता जाता था। उगलिया गिनती चली गईं और वह दंग रह गया कि नोट कितने अधिक है! सौ, डेढ सौ, दो सौ तक की तादाद के लिए वह तैयार था। लेकिन पाँच के नोटो के बाद दस के नोटों की गिनती तो पूरी ही नही हो रही थी। उसके कुछ समझ मे नही आ रहा था कि यह बात क्या है। हठात् एक ही समाधान था कि यह उसकी योग्यता का सत्कार है। वह अपनी योग्यता किसी तरह बढाकर नही दिखाना चाहता था। वह अपने चारो ओर की भीड के प्रति भद्र और विनत दीखना चाहता था। नोटो की गिनती जितनी बढती लोगों के प्रति उसका विनय भाव भी उतना ही बढता जाता था। मालूम नही गिनती कितनी देर बाद पूरी हुई या पूरी हुई भी कि नही हुई। लेकिन राशि का अनुमान उसमे ठीक बैठ गया था। उसने फिर नोटों को वही छोड दिया और अपनी जेबो मे हाथ डाला। वह अचम्भे मे हो आया कि जेब मे बहुत से कागज है। तरह-तरह के उसके हाथ के लिखे हुए नोट्स थे और उसने दोनों हाथो से दोनो जेबो से उन्हे बाहर खीचा। ये नोट्स के कागज उसने मेज पर के नोटो के ऊपर डाल दिए। नोट सब ढँक गए। मानो उदारता मे आ

उन्हे अपने से ओझल चाहता था। जेब से अन्त मे रूमाल निकला और वह भी उन कागजो के ऊपर छोड दिया। अब उसने निश्चिन्त होकर कुर्सी की पीठ पर सिर पीछे किया और आराम से हो बैठा।

मालूम नही कितनी देर यह मजलिस रही। काफी ' काफी' काफी देर तक रही। उसे किसी की चिन्ता न थी। वह सानन्द और निर्द्वन्द था। वह अपने पूरे पन मे था इसलिए सबके प्रति प्रसन्न था। उसे याद था कि कोई तिक्तता उससे नही प्रकट हुई है और वह किसी के लिए अगम नही बना है। कमरे का वातावरण प्रकाश की लहरो की तरह मानो उमडता और नया-नया रूप लेता जाता था। उसीके साथ लोग भी अदल-बदलते थे। निश्चित एक बात थी कि वह केन्द्र मे है। अन्त मे समय होता गया और मालूम हुआ कि यह स्टुडिओ है और उठकर घर जाना है। तब उसने रूमाल समेत सब कागजो का ढेर उठाकर दाहिनी जेब मे ठूस लिया। सब कुछ गडमड था और उसे चिन्ता न थी। उसने देखा कि उसके साथ आस-पास के लोग उठ खडे हुए थे। सब कृतार्थ दीखते थे और यह अपना सम्मान उसे विशद किए जा रहा था। सब कही आनन्द का भाव था और परस्पर मे विदा लेकर मानो कृतज्ञ वे अपनी-अपनी राह चले जाने को उद्यत थे। किंतु तभी मानो नितात उदासीनता मे, एक बार फिर शैलेन्द्र अपनी आराम कुर्सी मे हो बैठा और जेब मे ठुसे हुए कागज उसने बाहर किए। लोग अब लगभग जा चुके थे। सब ढेर कागजो का उसने मेज पर पटक दिया और फिर एक-एक को हटा कर उनमे सरकारी सिक्के के नोट देखने लगा। यह क्या ? नोट तो वे कही थे नही ! उसने सब कागजो को उलटा-पलटा। एक-एक कोर दबा कर और फैलाकर देखा। लेकिन करारे कागज वाले वे पाच-पाच और दस-दस रुपये के नोट गायब थे। उनमे से एक भी कही नही मिल रहा था। उसने फिर जल्दी-जल्दी कागजो को देखा। जेबो को टटोला। कोट उतारा, पैंट खखोला, पर नोट हाथ नही आए। उसने अपने चारो ओर देखा। लोग सब जा चुके थे। रोशनी थी लेकिन बुझी मालूम

होती थी। उसकी कुछ समझ न आया। उसे निश्चय था कि किसी ने उन नोटों को ले लिया है और फिर चुपचाप सरक गया है। कौन हो सकता है? क्या वह?... क्या यह?...या वह?...अनेक-अनेक चेहरे भीड़ में से उसे याद आते थे। और प्रगट होने देर न होती कि वे सब के सब सच्चे होते भी चले जाते थे। उसने उन सभी को और उनमें एक-एक को दोषी पाया। लेकिन क्या हो सकता था! अन्त में बालों में उंगलियां डाल कर दोनों हथेलियों के बीच उसने दोनों कनपटियों को लिया और सिर थाम लिया। देखते-देखते वह सिर नीचे झुक आया।

* * *

कुछ गुनगुनाने की आवाज़ प्रमिला ने सुनी। अंधेरा था और उठ कर उसने बत्ती जलाई। अब मालूम हुआ कि उसका पति सोते-सोते कुछ बक रहा है। उसने पैर का अंगूठा धीमे से हिलाते हुए कहा, "सुनो!" "अजी सुनो!"

पति ने चौंक कर आँख खोली। मानो वह आगे कुछ पहचान न सका। हक्का-बक्का सा वह देख उठा और निरर्थक भाव से बोला, "क्या था?"

पत्नी ने पूछा, "कहो, क्या बात है?"

पति ने आँख फाड़ कर कहा, "क्या?"

"अं-अं, कुछ नहीं। शायद सपना देख रहे थे।"

"सपना!" कह कर एक क्षण वह रुका, फिर बोला, "नहीं बिल्कुल नहीं।"

"न सही। जाने दो। पर हुआ क्या?"

"रुपये सब चले गए।"

"रुपये!...कैसे रुपये?"

"बहुत थे। डेढ़, दो, ढाई हजार थे! ढेरों नोटों के रूप में।"

"क्या बक रहे हो?"

"सच कह रहा हूँ।"

इतना कहा और पति महाशय माथे को हाथ मे लेकर रुआसे हो आए।

प्रतिमा ने उनके सिर को लेकर अपने वक्ष मे समेटा। कहा, "कुछ नही। सपना था। सो जाओ।"

"नही, नही। सपना नही था।"

"तुम क्यो फिकर करते हो ?"

"सच कहता हू। मैंने गिने थे। एक-एक कर गिने थे। एकदम नए नोट थे और पूरे ढाई हज़ार थे।"

"सुनो, अब नही कहूगी। मरे रुपये का मुझे क्या करना है। तुम फिकर न करो। फिकर-फिकर मे जाने क्या-क्या देख जाते हो ?"

"तुम्हे यकीन नही आता है ?"

कहता हुआ पति पत्नी की गोद मे से छिनकर अलग हो बैठा।

प्रतिमा ने उसे ऐसे देखा जैसे आखो मे निरी ओस हो। गिड-गिडाती बोली, "नही। अब नही कहूगी। मेरे मारे ही तो फिकर है।"

पति ने उठाकर एक जोर का चपत पत्नी के गालो पर जड दिया। चिल्लाया, "फिकर है तेरा सिर। मैं झूठ बोलता हू ?"

पत्नी आख फाडे अपने देवता स्वरूप पति को देखती रही।

"यकीन नही आता न ? और मैं झूठ बोलता हू, क्यो ?"

यह कह कर उसने भी जोर से अपने गालो पर उसने चपत जमा लिया फिर तो तडातड वह अपने को पीटने लगा। कहता जाता था, "मैं झूठा हू, कमाता हू तब भी झूठा · झूठा है साले, तू मर।"

पत्नी ने पति के उठते हुए दोनो हाथो को जोर से पकड कर बर जोरी अपने वक्ष के नीचे दबा लिया। कहा, "मुझे माफ करो। माफ करो। अब कभी नही कहूगी।"

पति मे जाने कितना जोर आ गया। हाथ खीचकर उठ खड़ा हुआ बोला, "मैं झूठा हू न ? रुपये नही मिले और किसी ने नही चुराए—

यही न ? मैं निकम्मा हूं। नालायक हूं, और तू सच्ची है। यही न ?"

"नहीं, नहीं, नहीं !..."

"मैंने नोट नहीं गिने, यही न ? मैं झूठा हूं और तेरे लायक नहीं हूं, यही न ?"

अनिमा उठकर उनके चरणों में लिपट गई। बोली, "नहीं, नहीं ! थे, सब थे। किसी ने चुरा लिए। अब तुम सो जाओ।"

चरणों में पड़ी पत्नी को जोर से लात मारकर उसने दूर फेंक दिया। कहा, "मैं झूठा नहीं हूं, कमबख्त शैलेन्द्र हूं। और तू समझती है क्या ?"

रात गहरी थी और शैलेन्द्र में खून उतर आया था और—

* * *

नागन, तब से शैलेन्द्र का मस्तिष्क स्वस्थ नहीं है। यही शैलेन्द्र कि जिसकी ख्याति भी है।

अक्तूबर '६१

बेकार

"हुकुम आया है कहानी भेजो। बताओ क्या करूं ?"

"भेज दो कहानी।"

"क्या भेज दूं ? कहां से भेज दूं ? मन ही किसी काम को नही होता है।"

"क्यो ? ऐसा तुम्हारे मन पर क्या आ बीता है ? मुझे देखो, सारी चिन्ता मुझ पर है। तुम्हे क्या फिकर कि क्या चीज क्या भाव आती है, बच्चो के लिए दूध कैसे जुटता है। तुमको तो पडे रहना और सोचते रहना है। इस पर कहते हो, मन नही करता। अच्छा तुम्हारा मन है। उठो, और लिखो कहानी। नही तो वे लोग भी क्या कहेगे ?"

अब कैसे बताऊं इनको जो चूल्हे-चौके मे रहती हैं, बासन-बुहारी मे रहती है। ना तो रिश्तो वाले लेन-देन मे रहती हैं कि ख्रुश्चेव पर क्या बीती, कि चीन के अणुबम विस्फोट का क्या मतलब है, कि वर्ता-निया की सरकार पलट कर एकदम दूसरी बन गई है। वगैरह-वगैरह बातें हैं जो असली हैं और मेरे दिल पर बैठी हुई हैं। उन बातो के बोझ से अगर वह दिल उठता ही नही है तो इसमे उस दिल की ओर कायल ही होना चाहिए। मैं अपने बारे मे बिल्कुल विश्वस्त हू कि मेरा दिमाग दूर तक जाता है और बारीक बातो को पकडता है, और हर छोटी-मोटी ले-दे से ऊपर रहता है।

"फिर वही ! अभी बैठे ही हो ! मशीन लेकर टाइपिस्ट कमरे मे बैठा इन्तजार कर रहा है। वहा कहानी की राह देखी जा रही होगी। विशेषाक दीवाली तक निकल जाने वाला है। उधर रेडियो पर उपन्यास भी जाना है। और तुम ऐसे मुफ्त बने हुए बैठे हो कि जैसे सब कर

हो। मेरी सुनते ही नहीं हो। कहती हूँ कि मैं मान नहीं जाने दूँगी। पहले माघ में ब्याह जरूर हो जाना चाहिए। पिछले में ब्याह में हमने पच्चीस हजार लगाया था, इतना तो वे कर देंगे न ?"

"कहाँ का झमेला ले बैठी हो? चलता हूँ, मुझे कहानी भेजनी है।"

"बस, तुम्हें तो कहानी उपन्यास की लगी है, बेटे-बेटियों की फिकर नहीं! घर में बहू आती तो कुछ तो सँभालती? सारा बोझ बस मेरे सिर। तुम्हें क्या है, दिन-रात पिसती तो मैं हूँ, वह पिछले पन्द्रह रोज से बीमार है, तुमने कुछ किया? कहा था, आदमी को भेज के बुला लो, यहाँ अच्छे डाक्टर हैं, ठीक तबीयत हो जाएगी। पर तुम्हें उपन्यास से फुरसत मिले तब न? कोई और होता तो अब तक घर में पोते-बच्चे दिखाई देते। तुम तो चले जाते हो अपने दफ्तर और सब अपने-अपने काम में। पर वह भी कुछ घर है जिसमें बाल-गोपाल न हों। पर क्या, उसे बीनाना नहीं। रवी की उमर पच्चीस के ऊपर हो गई। काम से भी लगा हुआ है, अब तो घर भरा-पूरा होता। पर तुम ऐसे हो कि फिकर कहानी की तो है, और किसी बात की नहीं है।"

बात यह है कि निकला-निकाला मुझे भी मुसीबत मालूम होती है। जब तक टल सके अच्छा है। लेकिन मैंने गुस्सा दिखाते हुए कहा—"तो क्या कहती हो, मुझे करने को? जाओ, सब काम-काज पीछे, तुम पहले।"

श्रीमती अपनी जगह से उठीं कि ज्या ठहरो, मैं अभी आती हूँ। और सचमुच थोड़ी ही देर में वापिस आ कर दोनों हाथों को ऊपर लेकर, चुटकी मारकर दीवान पर बैठती हुई बोलीं, "अब कहो!"

"कहाँ गई थीं?"

"कुछ नहीं।"

"देखो, आगे पीछे कोई रहेगी, पाँच मिनट में मुझे छुट्टी दे दो। कहानी जल्दी जानी है।

"उसकी अब फिकर नही है—हा, क्या कहते थे, दो बहने है और · ।"

"मैंने छोटे बाबू को फोटो के लिए कह दिया है, ठीक हुआ तो बाकी विचार पीछे होगा ।"

"फोटो से कही ठीक पता चलता है ? यही पडोस की बात है, फोटो से कैसी सुन्दर लगी थी, पर वहू आई तो ऐसी कि' ·। जाके तुम देख आते तो कैसा ?"

"किसे देख आता ? बात न बात, बेबात की बात । मुझे अब जाने दो ।"

"बम्बई मे है लडकी ? धारीवाल साहब को फोन कर दें कि देख के पता दे । शाम तक उनका फोन आ सकता है । इन बातो मे देखो, देर नही किया करते । और तुम हो कि एक काहिल हो । लो, धारीवाल को मिलाओ फोन ।"

"क्यो, तुम्हे कोई और काम नही है कि' · ·।"

"तो मैं मिलाती हू, धारीवाल को । बताना क्या नम्बर है ?" तुम्हारी डायरी मे होगा न ? अर्जेन्ट किये देती हू बम्बई की लडकी का पता तो है न तुम्हारे पास ।"

"नही है ।"

"नही है ? बस तुमसे हो लिया कुछ । पता भी नही पूछा छोटे बाबू से ! अरे ऐसे घर-गृहस्थी के काम नही हुआ करते । लो अब पूछ लो। पूछ के, फौरन धारीवाल को कहो कि सब देख-भाल के शाम तक वापस फोन पर खबर करे । आज क्या है, तीज और असौज का महीना । कातिक मे मजे मे व्याह हो सकता है, जोग भी है । तुम्हारे पास कितने की तैयारी है ? ज्यादे फिकर की बात नहीं, जेवर के लिए मेरे पास से हो जाएगा । काफी तो पुराना पडा ही है । कल ही बुला के उसे नया करने के लिए कह दूगी । वह फिकर मुझ पर । ऊपर की तैयारी के लिए तुम्हें चिन्ता होती हो तो मैं राधे बाबू से कह सकती हू । तजुर्बेकार हैं

और बहुतों के काम उन्होंने किए हैं। उन्हें फोन से हम एकदम निश्चिन्त हो सकते हैं।"

मैं अपनी जगह से उठा। श्रीमती बोलीं, "तुम तो अभी से फिकर में आने लगे। मैं कहती हूं, मेरे रहते तुम्हें जरा चिन्ता करने की जरूरत नहीं। दमेक तो तुम्हारे पास हो जायगा न ?"

"क्या ये गड़बड़ मचा रखी है। तुम्हें नहीं तो मुझे तो काम है!"

श्रीमती उठी और टेलीफोन लाकर मेरे हाथों में थमा दिया। कहा, "लो छोटे बाबू से पता पूछ लो।"

हाथों से मैंने टेलीफोन को फेंक नहीं दिया। धीमे से बराबर की तिपाई पर रखा और कहा, "बम्बई का पता है जी।"

श्रीमती जी उछलकर बोलीं, "तो फिर क्या बात है, जी भार्गवा को मिलाओ। कह देना, काम को अपना समझ कर करें और एकदम अर्जेन्ट समझ कर। और काम की सब बात भी पूरी समझा क्यों न दें? समझे। क्या कहोगे ?"

मैं भी और आगे न देख, टेलीफोन से बचा, वही सिर बैठ गया था। लेकिन यह सब बहुत हो रहा था। मैंने कहा, "थोड़ा सा जान लो, उनकी भी देख लें। तब उसकी राय से आगे जो जरूरी होगा किया जायगा। उतावली से कुछ नहीं होता है, उलटे काम बिगड़ता है।'

"इसमें उतावली है! और जल्दी को इक्कीस बरस का कर दिया, सो तुम्हारा धीरज है!! आग में जाय ऐसा धीरज। लो, जरा भार्गवा को फोन।"

छोटे बाव के हाथ मे रहने दो। वह बीच मे है तो उन्ही का जरिया ठीक है। सब तरफ से मुनासिब हो, तभी हममे मे किसी का बढना सही होगा। उससे पहले नही।"

"क्या तुमने किया है अब तक कोई रिश्ता या टेला—जो अपनी अक्लमन्दी लगा रहे हो ? ये काम ऐसे नही होते। मुझे बताओ, धारीवाल का नम्बर क्या है ?"

"मुझे नही मालूम।" कहकर मै तीर की मानिन्द वहा से चलता हुआ बाहर के कमरे मे आ गया। पर कमरा खाली था। वहा कोई गोविन्द न था।

लौटकर आया तो श्रीमती जी सचमुच नम्बर के लिए डायरी टटोल रही थी। मैने कहा, "बाहर कमरे मे कोई नही है। टाइपिस्ट क्या हुआ ?"

श्रीमती जी डायरी टटोल रही थी और टटोलती रही।

"तुमने टाइपिस्ट को कुछ कहा था ?"

मालूम होता है कि धारीवाल का नम्बर मिलने मे समय लिये ही जा रहा था।

"सुनती हो, कुछ कहा था ?"

श्रीमती जी ने डायरी मे हटाकर अब मुह मेरी ओर किया। कहा—"हा, कहा था। तुम्हे तो अपनी तन्दुरुस्ती की फिकर है नही, खासी तब की अब तक चल रही है। आराम को तुमने हराम मान रखा है। ऐसा भी क्या काम ? जब देखो तब लिखाई। लिखाई जाय भाड मे, सबसे पहले तन्दुरुस्ती है।"

मैने जोर से कहा, "क्या कहा था उस टाइपिस्ट को ?"

"कहा था, भाई आज जाओ, उनकी तबीयत ठीक नहीं है। आज लिखाना नहीं होगा।"

"तुमने यह कहा था ?"

"हा। और अब तुम आराम करो। धारीवाल का फोन भी बाद

मे हो जाएगा। ऐसी कोई तबाही नही है । तन्दुरुस्ती है तो दुनिया है और सब काम वकत पर हो सकते है। लो, आओ यहा लेट जाओ।"

टाइपिस्ट चला ही गया था और आराम मे लेटे रहना मुझे कभी बुरा नही मालूम होता है!

अक्तूबर '६४

झमेला

जगह पाने मे समय लग रहा था और मैं बार-बार घडी देखता और झुंझलाता था। पाच कहा गया था और अब उसने पाच मिनट ऊपर हो गया था। एक-दो मिनट और निकल गए तो अनुमान से एक द्वार मैंने ठेलकर खोला। वहा साइन बोर्ड नही था और मैं शका मे था। दरवाजा खोलने पर अन्दर अन्धेरा दिखाई दिया। थोडी देर मे मालूम हुआ कि एक मद्धम बत्ती है और बाहर के प्रकाश से आने के कारण ही अन्धेरा इतना घुप्प दीखा था। मैंने आखें मली और कमरे को भेद कर देखने लगा। कमरा लम्बा था और शुरू मे कुछ दिखाई न दिया। फिर दूर परले किनारे से एक मूरत इसी तरफ बढती मालूम हुई। क्या वही सुषी है? पहचाना नही जाता था और चाल उस जैसी न थी। तभी मालूम हुआ कि पीछे एक और व्यक्ति भी है जो कद मे ऊचा, पूरा और विश्वस्त मालूम होता है। कौन हो सकता है? यह सोच न पाया था कि सुषमा की आकृति मुझे पहचान मे आ गई। मैं तेजी से आगे बढा और दूसरी ओर से मानो सुषमा झपटती हुई मुझमे आ गिरी। बोली—"राजेश!"

मैं सन्न रह गया। सुषमा जो थी उसने अब आधी भी नही थी। सूरत पर से सब उजड गया था। बाल बिखरे थे और सब बिखरा था। आखें फीकी, खोई, बदहवास थी।

यह सब अभी ध्यान में न ला पाया था कि सुषमा अलग हो गई। साथ के व्यक्ति पास आ चुके थे। सुषमा ने परिचय कराया और उन्होंने कहा, "अच्छा, अब मैं जा सकता हू?"

सुषमा ने हाथ जोड दिए। व्यक्ति ने मेरी ओर हाथ बढाया और

विदा लेकर वह तभी चले गए ।

मैंने निगाह घुमाकर अब जगह देखी । मोमबत्ती से भी धीमी एक लाइट जल रही थी । अच्छा मालूम हुआ । मानो दिन न हो, न रात हो । एक धुंधलका हो और सब सपना हो । उस सुती संक्षिप्त देह को कंधे से लिया और मानो पूछते हुए मैंने कहा—"सुषी ?"

"मैं इन्हीं के यहां हूं । नहीं,—थी !"

उत्तर का मर्म न मिल सका । यह सफाई थी कि चुनौती ? हम चलते हुए एक मेज़ के किनारे आ गए । उसके गिर्द घूम कर सुषमा एक कुर्सी की ओर बढ़ी और बैठने को थी कि मैंने दोनों कांधों से उसे पकड़ कर सामने लिया । फिर एक हाथ से ठोढ़ी उठाते हुए कहा—"यह क्या कर लिया है तूने ?"

उसकी आंखें तिर आई थीं और वह कुछ बोल नहीं सकी ।

कंधे पर दबाव देकर उसे बिठाया और मैं आप भी कुर्सी पर हो बैठा । मुझे सूझता नहीं था कि क्या कहूं ? क्या पूछूं ? वह भी चुप थी ।

मैंने उसकी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया था । मुझमें गुस्सा था । मैं देश से बाहर गया कि यह सब घटना घट गयी थी । पीछे हिसाब लगाकर देखा कि मेरे विदेश जाने से दो दिन पहले की घटना थी । इसी पर मेरे मन में क्रोध था । इतनी बड़ी बात होने वाली हो और मुझे मालूम न हो । इस पर मैं किसी तरह सुषमा को क्षमा नहीं कर पाता था । बहुत सोचता था कि हो सकता है कि वह समझती हो मैं विदेश के लिए निकल गया हूं । आखिर फोन की दो-एक तिथियां बदली तो थी हीं । इस तरह नाना तर्क उसके पक्ष में करता, लेकिन मन किसी में संतोष न पाता था । विदेश से लौटते ही मैंने फोन किया, फिर फोन किया । कोई उत्तर न आया । फिर फोन किया तो किसी ने उठाया और नाम लेते ही धप से बन्द कर दिया । मैं व्यग्र था और इस बात पर और भी नाराज़ कि मुझे खुद खोज-तलाश पर उसके बारे में पता

लगाना होगा।'''इसके काफी दिनो वाद उसका पत्र मिला था। पत्र मानो मेरे हाथ मे ग्राकर गिडगिडा ग्राया था। लेकिन मन का क्रोध उससे ग्रौर उभरता ही गया। मैंने मन मे कहा—'मर कम्वख्त। मुझे क्या है ?'

लेकिन सच कहता हू कि कितना ही मैने मन को समझाया कि मुझे क्या, लेकिन मुझे ही चैन नही था। क्या हुग्रा होगा ? जन-प्रदवाद ने क्या हाल किया होगा ? क्या उसके मन पर वीत रही होगी ? क्या ग्रास-पास का व्यवहार होगा ? सव प्रश्न मन मे उठते थे ग्रौर सवके उत्तर मे एक घोर ग्रन्धेरा ही हाथ ग्रानेको रह जाता था ग्रौर मै ग्रौर भी क्रोध से भर ग्राता था। सोचता था—चलू, एक वार उस शहर मे जाकर देख ही ग्राऊ। लेकिन जाने कौन मुझे रोक देता था ग्रौर मालूम होता था कि ऐसा होना ग्रसम्भव है।

यही महीने भर पहले की वात है। तव से उसके नाम पर सिवा कष्ट के मैने कुछ नही भोगा। वेचैनी के हाथ कही कुछ विन्दु भी ग्राता तो उसको मसल कर ग्रपने को कुछ हल्का भी किया जा सकता था। लेकिन खत का जवाव मैने नही दिया। न फिर कोई खैर-खवर ग्राई। इस सुन्न सन्नाटे पर कोई क्या कर सकता था ? लानत-मलामत, फट-कार-दुतकार किस पर डाल सकता था ?

कि ग्राज फोन मिला। पूछा, क्या पाच वजे मै ग्रा सकता हू ? ग्रावाज काप रही थी, गला भरा हुग्रा था। लेकिन उसके इस 'क्या' पर मे झुंझला ग्राया। "क्या मै ग्रा सकता हू ?" क्यो, वह कमवख्त जानती नही कि दुनिया के सव काम छोडकर मुझे जाना होगा, 'क्या' का सवाल नही है ! फिर भी वह उसका 'क्या' मुझे ग्रन्दर तक चीर गया। मानो उसने ग्रपना विश्वास खो दिया हो, मेरा विश्वास खो दिया हो। दुनिया मे कही उसके लिए किसी विश्वास का ठिकाना न रह गया हो। मैंने कहा था "कौन सुधी ? तू ग्रभी है ?"

"हा, हू।"

"मरी नहीं ?"

"नहीं। अभी नहीं मरी।"

"मैं क्यों आऊं ?"

"मारने भी नहीं आ सकते ? उसी के लिए आ जाओ। दया करो।"

इस बात का मैं सहसा उत्तर नहीं कोई बना सका और फोन कान पर लिए चुप रह गया।

"राजेश ?"

वाणी मानो भीतर पानी से भरी कांप रही थी और मुझमें मान चढ़ता जाता था।

"राजेश ? ··राजेश ! सुनते नहीं हो ? मैं मर रही हूं।" आके देखोगे नहीं कि मैं मर रही हूं ?"

मैंने जोर से टेलीफोन वहीं दे मारा और इस पांच बजे तक इंतजार करता रहा।

शायद उसे आशा नहीं थी। शायद उसे आशा थी। मन कहता था कि वह जानती है कि कुछ और मेरे लिए सम्भव नहीं है। जाए बिना मुझ से रहा नहीं जा सकेगा। और सचमुच ही मैं विस्मित नहीं हुआ जब देखा कि मेरे आते ही उसके साथ के सज्जन विदा ले गए हैं। सुषमा को मैं जानता हूं। हीरे की कनी-सी वह कठोर हो सकती है और काट कर सकती है।

"बम्बई से कब आई ?"

"सात रोज हुए !"

"सात रोज ?" ··और मेरा गुस्सा फिर मुझमें चढ़ने लगा।

"आज भी मजबूर होकर तुम्हें याद किया है।"

"न करती आज तो क्या बुरा था ?"

"अच्छा ही था। लेकिन हो नहीं सका। ··राजेश, ये क्या हो जाता है ? जिन्दगी क्या है ? दुनिया क्या है ? प्यार क्या फ़ितूर है ?"

"क्या मगाऊ ? काफी, चाय ?"

"अँह, छोडो ।···सच, राजेश। प्यार क्या है ? धोखा है ?"

"जाके कहता हू, कि जल्दी करे।"

"नही, बैठो। आता होगा। क्यो, मुझे सह नही सकते हो ?"

"नही सह सकता। शकल तो देखो ! और यह लिबास ! वाह ! क्या कहने है ! बम्बई मे यही सीखा है ?"

"तुम विलायत मे क्यो जा बैठे थे ?"

"बको मत ! मेरे जाने से पहले तुम यह कर चुकी थी !"

"कौन कहता है ?"

"मै कहता हू। तुमने फोन किया था ? पूछा था ? अब बात बनाती हो !"

"सच, तुम तेरह को नही चले गये थे ?"

"नही, सत्रह को गया था !"

सुनकर उसके मुह से लम्बा सास निकला। जैसे गहरी हाय हो। फिर बोली, "छोडो राजेश। अब कहो, तुम्हारे पास आ जाऊ ?"

राजेश ने उस अन्धेरे उजाले मे सुषी के चेहरे को भरपूर देखा। प्रश्न मे पारदर्शी ईमानदारी थी। बोला—"सुषमा ! तू बक तो नही रही ?"

"नही, बक नही रही, तुम जानते हो।"

"अब कहा हो ?"

"घर आ गई हू। एक पाँव इनके यहा भी है जो अभी गये हैं !"

"सातो रोज यही थी ?"

"हा।"

"घर आज गई हो ?"

"हा।"

"स्वागत मिला ?"

"नही, कोई मुझसे नही बोला।"

"खुद गई थी ?"

"वही आकर ले गए थे, मैंने फोन किया था !"

राजेश पीडा से भर आया। बोला—"सुषमा !"

"तुम जानते तो हो राजेश ! मरना इससे आसान होता है !"

"उन्होंने कुछ नही कहा ?"

"कुछ भी नही कहा !"

"क्या बात है ? पत्थर तो है नही वह ।"

"मैंने पत्थर कर दिया है' इतना कि अब वह मुझ पर डाट-डपट भी खर्चना फिजूल समझते हैं !"

"उनको तो हक है। और नही तो सख्ती ही करें।"

"सब हक तर्क कर दिया है उन्होंने। मै नरक मे जाऊ, या पाप में पड़ू। लेकिन, उनकी परवरिश की छत मेरे लिए हमेशा खुली है। यही है राजेश, जो मैं नही सह सकती।...नही सह सकती।...नहीं सह सकती।.. ये कृपा.. ये दया...ये भीख.. बताओ राजेश क्या करू ?"

"वहीं रहो।"

"राजेश !"

"हां, वही रहो।"

"तुम कुछ नही कर सकते ?"

"नही कर सकता।"

"राजेश ! तुम सख्त क्यों बनते हो ? तुम वह हो नहीं। तुम्हारे पास सब है। जरा चाहो तो सब कर सकते हो। मेरे लिए एक कोठरी बहुत है। तुम्हे कैसे बताऊ कि घर मुझे हर घड़ी पीसता रहता है। उनकी परवरिश के मैं लायक नही हूं। तुम्हे क्या बताऊ कि वहा मेरा अब भी आदर होता है ! सब मेरी फिक्र करते है। मुझसे कुछ नही कहते और मेरी हर ख्वाहिश, हर जरूरत का ख्याल रखते हैं। राजेश, मुझे उबार लो। मुझे वहा ऐसे रखा जाता है जैसे अस्पताल हो, और मै मरीज हूं। राजेश, मैंने जो किया सब भुगतने को तैयार हूं। खुशी से तैयार हूं मेरे

मन मे अब भी नही है कि किए पर लौटूं। पछतावा मन मे नही है। प्यार को व्याह से बडा समझा, इसको क्या मैं गलती मान सकती हू ? लेकिन, मुझे उबार लो राजेश ?"

"उन्होने तो व्याह को बड़ा मानने को तुमसे नही कहा न ?"

"ना !...नही कहा !"

"फिर ?"

"राजेश ! तुमको क्या हुआ है। सोचो कि मैं कैसे सह सकती हू ? दस महीने पूरे हो गए, मैं खुलकर उनके साथ रही और घर की तरफ नही देखा। अब दस महीने बाद घर की शरण लेती हू और कोई कुछ नही कहता, तो क्या यह मुझे काटेगा नही ?"

"मत शरण लो।"

"कहती तो हू, कुछ इन्तज़ाम कर दो।"

राजेश अपने बावजूद अन्दर मे कसता आ रहा था। उसने कहा—

"ठीक है। एक मुनासिब कमरा डेढ सौ से दो सौ रुपये माहवार किराये मे हो सकेगा। तलाश करूं ?"

"राजेश !" सुषमा ने दबी चीख मे कहा—"तुम चले जाओ यहां से !"

"काफी न पीने दोगी ? लो, वह ले भी आया।"

बैरा सब सामान मेज पर रख गया। सुषमा सुन्न बैठी रही और राजेश ने प्याला बनाकर सुषमा को पेश किया। सुषमा ने चुपचाप सासर को हाथ मे ले लिया और फिर राजेश ने अपना कप बनाया और धीरे से सिप् किया। साथ ही सैंडविच के प्लेट को उसने सुषमा की तरफ सरकाया। कुछ देर कोई कुछ नही बोला। अन्त मे राजेश ने कहा—"क्यो, बनाया नही ?"

सुषमा मानो आसुओ मे से हसी। बोली—"मेरे पास बहुत पैसा है। बहुत · बहुत ··बहुत पैसा है ! जानते हो औरतो के पास पैसा कैसे आ जाता है ? कमाते मर्द हैं, आ जाना औरतो के पास है। सिर्फ इस

खूबी से कि वे औरत हैं ! क्यों, मुझमें क्या अब कुछ बाकी नहीं रहा जो पैसे की बात करते हो ?"

"बाकी होगा, इसीलिए शायद चुपचाप पति ने अपना घर फिर तुम्हें पेश कर दिया !—है न ?"

"राजेश, निकल जाओ यहां से । मैं बेवकूफ थी जो तुम्हें बुलाया !"

"हां, बेवकूफ थी । और इससे पहले भी जो की बेवकूफी की । तुम प्यार करती हो, मैं बेवकूफी कहता हूं । सुषमा, इसीलिए आया हूं कि तुम समझ जाओ कि बेवकूफी क्या होती है !"

"तुम प्यार को बेवकूफी कहते हो, तुम ? अभी तक तुम्हीं न थे कि मुझे समझाते थे कि वही एक सत्य है, वही परम सत्य है । परमेश्वर उससे दूसरा नहीं है । और अब ये क्या कहने लगे ?"

राजेश ने कडवा बनकर कहा—"कह ये रहा हूं कि दो सौ रुपये में एक ठीक कमरा हो सकता है । उस हिसाब से पांच-छः सौ रुपया ऊपर का और खर्च समझ लो । सात सौ रुपया माहवार तुम कितने महीने तक चाहती हो मैं तुम्हें उधार देता रहूं ?"

सुषमा व्यथा और वेदना से भरे स्वर से बोली—"राजेश !"

"शायद सामयिक पतित्व मुझे एवज में देने की बात तुम्हारे मन में हो । तब अवश्य उधार उधार नहीं रह जाता । क्यों, यह बात है ?"

"राजेश, मैं कह चुकी हूं कि तुम चले जाओ यहां से !"

"—नहीं । वह मुझे मंजूर नहीं है । वह महंगा सौदा होगा । इससे तो सस्ता प्यार होता है । प्यार में सब मुफ्त मिल जाता है ! क्या वह तुम्हारे पास है, या मेरे पास है, जो दिया जा सके ? मुझे तुम वह मानती हो जो प्यार को परमेश्वर कहता है । मैं अब भी उसे परमेश्वर कहता हूं । तब प्यार हमारा कहां है, परमेश्वर का है और उसमें सौदा नहीं हो सकता ।" सुनो सुषमा, बहको मत, और बहकाओ मत ! ये ठीक है कि कमाता मर्द है, खर्चती औरत है । पैसे पर अधिकार औरत मानती और भोगती है, मर्द तो कमाने और गनिजाने भर का हक-

दार है। मर्द की इसी कमजोरी को अगर औरत अपनी ताकत समझे जाएगी तो वह पागल होगी। तब जानती हो, पति उसका मालिक बनेगा और साथी नही बन सकेगा। पति मालिक का और पत्नी माल मालिकी का नाम होगा और उसका बन्धन अन्तिम होगा। तुम्हे नही मालूम कि जिस भाषा मे सोच रही हो वह प्रेम की नही, अर्थ की है। इसीलिए तुमसे कह रहा हू कि पति के घर की शरण ली है तो वही रहो और वही ठीक है। उसमे तुम पिस जाओ, मर जाओ, तो भी गलत नही होगा। क्योकि···क्योकि 'बताओ, जो प्यार था वह प्यार निकला ? फिर वह उड कैसे गया ?' 'मैने तुमसे पूछा नही है ''सुषमा, माफ करना। सच बताओ, क्या हुआ ?"

'तुम क्या उसे नही जानते ? देखा तो है। कई बार देखा होगा।"

"हा, देखा है। जानता हू। लेकिन, हुआ क्या ?"

"क्या बताऊ राजेश ! मुझमे सब हो गया था ! कोई खूबसूरती न थी जो मुझमे न हो ! वह जिन आखों मे देखता था उनमे कुछ कमी न रहती थी। मानो वह निगाह सारी दुनिया, सारा खजाना, सारा स्वर्ग मुझमे पा जाती थी। राजेश, वे दिन ऐसे ख्वाब मे गुजरे कि कुछ कहा नही जा सकता। मै उमगी रहती थी और घर मे नौकर को भी बर्दाश्त नही कर सकती थी। मेरा मन नही भरता था जब तक बर्तन मै न माजू, सफाई मै ही सब न करू और खाना भी खुद ही न पकाऊ। एक दफे खाना बनता था और हम निकल जाते थे। जहां चाहते जाते, और सब जगह रंगीनी थी और खूबसूरती थी और वक्त मखमल बन जाता था। लेकिन···मेरे जिस्म मे से जाने क्या खोने लगा। और उसकी आखो मे से भी न जाने क्या कम होने लगा। लमहे वही होते और सब मंजर वही रहता। लेकिन, वह बतलाता कि मैं उन्नीस-बीस बरस की क्यो न हुई और कुमारी क्यो न हुई ! और मुझे भी सोचना पडता कि हाय उन्नीस-बीस बरस की कुवारी मैं क्यो न हुई ! लेकिन, कुवारपन मेरे बस का न था। और उसको उसी की चाहत होने लगी थी। मैं···मैने

ज़हर भी खाया ! और भी रास्ते आज़माये। पर अपने से और आपस से नफरत ऐसे घुमड़ती हुई उठती कि हद पार कर वह प्यार बन जाती ! हम एक दूसरे को नफरत करते और फिर एकाएक प्यार में डूबकर, फिर नफरत करने का दम पा जाते ! उस सबमें स्वाद भी था राजेश। बड़ा तेज़ स्वाद था।'' मैं उसमें रहे जा सकती थी। मरती-मरती भी जिए जा सकती थी !' पर क्या हुआ कि उसने कहा, दिल्ली चलेंगे।"

मैंने इस बीच सुषमा का एक हाथ अपनी दोनों हथेलियों के बीच ले लिया था और वह वहीं टिका हुआ था। अब स्वयं उठाकर सुषमा के हाथ को मैंने सुषमा की गोद में ही छोड़ दिया। सुषमा ने कहा—"क्यों ?"

मेरा स्वर भरा था। बोला—"कुछ नहीं !"

सुन कर सुषमा ने अपना हाथ बढ़ाकर मेरी उंगलियों को ले लिया और कुछ देर उन्हें उसी तरह थामे रही। लेकिन मुझ से सहयोग, सहारा न गया और सुषमा का हाथ वापस अपनी ही गोद में खिंच गया। मैंने जाना कि उसने मेरी ओर देखा है। मैं जाने कहां पार देख रहा था और जाने क्या देख रहा था।

"सुन रहे हो ? "

जाने दूर कहीं कुएं के भीतर से आवाज़ आ रही हो, ऐसे बोला—"हां।"

"नहीं। सुन नहीं रहे हो !"

"हां, छोड़ो।'' वह सब होता है।' तुमने बहुत सहा।'''आगे मुझे सहने को न कहो।"

"नहीं, सुनो। हम दिल्ली आ गए। फिर जानते हो, एक रोज़ क्या हुआ ? बात थी कि तीसरे रोज़ बम्बई लौटेंगे। मैं उसी की सोचती थी और चीज़-वस्त के इन्तज़ाम में थी। तभी क्या देखती हूं कि'' एक सवेरे वह चुपचाप गायब हो गए हैं ! चाबी निशान की थी और अपना सामान सहेजा लिया था। मुझे पता नहीं हुआ, शाम तक पता नहीं

हुआ। आखिर पता चला तो यही मेरी समझ मे नही आया कि न कहने की और चोरी की इसमे क्या बात थी! मै जबरदस्ती तो साथ बधने वाली थी नही। कहते तो कुछ उनके लिए सुभीता ही कर देती। लेकिन, राजेश, बताओ यह क्या होता है? जो एक दिन सब कुछ थी वही भार और बोझ कैसे बन जाती है? मै औरत हू और किसी तरह इस बात को नही समझ पाती!"

"तुम नही समझ पाओगी। कोई नही समझ पाएगा। छोडते हैं, उसको समझने की जरूरत नही रह जाती है। पाना चाहते हैं, वही आखों मे बसा रहता है। सुषी, कई होगे जो राह मे तुमसे भी छूट गये होंगे! उनके बारे मे तुम समझ सकती हो, सोच सकती हो!···यही उस बिचारे के साथ हुआ। उसके मन में कभी तुम बसी थी, अब जो और सूरत और मूरत वहा बस गई होगी वह उसी के पीछे चला गया। तुम्हे अगर छोड गया तो तुम्हे समझने की उसे जरूरत ही कहा रही? छोडो। बन्द करो। आओ, उठो। हल्की बनो और रज को पी जाओ।···पिक्चर चलोगी?"

"नही, आगे सुनो ·यह आज उसका खत आया है। इसी के लिए तुम्हे बुलाया था कि पूछू, क्या करू?"

उस धुधली रोशनी मे राजेश ने खत पढा। बचकाना-सा था लेकिन उस मे बहुत दर्द था। वह सच्चा खत था। पढकर राजेश चुप हो गया।

"बोलो, बताओ। कुछ कहो न?"

"तुम क्या सोचती हो?"

"मै कभी·· कभी नही जाऊगी!"

"वह पागल हो सकता है! तुम्हारे बिना जीना उसे मुश्किल है। ऐसे मे जो कर गुजरे थोडा है·· यह सब तुम जानती हो।"

"नही जानती। कैसे जान सकती हू। मुह छिपाकर मेरी तौहीन करके जो चला गया है, क्या वह यह सब बनाकर नही लिख सकता? ···नही, सब धोखा है।"

ये दो

राम कुमार जी को 'महाशय' कहना शब्द का रूढ़ प्रयोग नहीं है। आशय वह अपना भरसक महान् रखते हैं। लेकिन उन्होंने सिर पकड़ा, बाल खींचे, पर कुछ समझ में न आया।

सवेरे का समय था, और वह अकेले थे। कुछ काम-धाम हो नहीं सका था। रात को नींद नहीं आई थी। और वह चुपचाप उठकर सवेरे मुंह-अंधेरे ही इस अपने अध्ययन के कमरे में आ गये थे कि कुछ करेंगे। पर किया कुछ नहीं जा सका। आकर पहले तो वह इस कमरे में इधर से उधर घूमते रहे। फिर मेज़ पर बैठे भी, तो कुछ देर बाद कुहनियां मेज पर टिक गईं, और हथेलियों में ठोडी तथा कनपटियों के सहारे चेहरा टिक गया। और वह सोच में बैठे रह गये। बैठे-बैठे फिर उठना पड़ा। और फिर टहलने लगे। ऐसे ही समय बीतता गया। पक्षी चह-चहाने लगे। और सवेरा निकलता चला आया। मालूम हुआ कि समय अवश्य चला है, और शायद कदम भी बराबर चलते रहे हैं, पर बात वहीं की-वहीं रही है, तनिक भी चल-विचल नहीं हुई है।

बात सचमुच ही अगम थी। अजब जिच की अवस्था थी। उस पर यकीन करने को जी नहीं होता था। पर वह थी, और घोरता से सामने थी। अन्त में उन्हें और कुछ नहीं सूझा, तो हार कर मेज़ पर बैठे, और हाथ बढ़ाकर मेज़ पर लगी घंटी को ज़ोर से दबा दिया।

आवाज़ सुनकर आये नौकर ने बंदगी बजाकर कहा—"जी?"

राम कुमार जी ने ऐसे देखा, कि जैसे पहचानते न हों, कि किधर से यह कौन आ गया है। फिर सम्भल कर कहा—"बीबी जी क्या रही हैं?...उन्हें भेजना।"

बीबी जी आई, तो वह कोई विशेष विश्वस्त और आश्वस्त भाव लेकर उपस्थित हुई, यह नही कहा जा सकता। आते ही बोली—"क्या है ? तुम सोये नही ?"

"तुम्ही क्या सो सकी हो ? सुनो, अब और कोई रास्ता नही है। उससे मिलना ही होगा ?"

"मिलकर क्या होगा ? उसकी जिद तो जाहिर है। वह एक नम्बर है, जो तुम समझते हो। झुकने वह क्यो लगा ? तुम्ही सोचो, इधर ही ठीक न होगा, तो उधर क्या आशा रखी जा सकती है ? अपनी लाडली को तो सभालो। उसी के बल-बूते पर वह कूद रहा है।"

"तुमने उससे बात की ?"

"बात क्या खाक करू ? वह तो गुम-सुम हो रहती है। बोले जाऊ, पूछे जाऊ, और अन्त मे हार कर मै ही सिर फोड लू। मैने कहा था, कि तुम बात करो। तुम से वह कुछ डरती भी है। मुझे तो गिनती तक नहीं। तुम्ही ने उसे चढाया है। ··तब मै कहती आ रही थी, कि समझो-बूझो। लेकिन तुमने एक नही सुनी। तुम्हें लडकी का भरोसा था, तो अब सभालते क्यो नही ? हर बात मुझ पर देते हो। बिगाड़ते खुद हो, सभालने को मै हू।"

"अच्छा, अच्छा जाके उसी को भेज दो।"

"भेज तो दूगी, लेकिन देखना, डाटना-डपटना नही। दो-दिन में बेचारी आधी हो गई है। वह मौन सुख मे है ? लेकिन कम्बख्त···उसे तो जेल होना चाहिए, जेल। पर तुम ने कुछ नहीं होने का दुनिया मे। समझ लिया।"

उनके कर्त्तव्य का मान इतना रह जाय, यह प्रसन्नता का सवाद न था। सुनकर महाशय की भौहें चढी। लेकिन उन्होंने अपने को काबू में किया। कहा—"अच्छा, बाबा। जाओ, पुप्पी को भेज दो।"

"देखना प्यार से समझाना। एक दफा मार लिया, बस वह बहुत है।"

"तुम जाके भेजो तो उसे।"

झल्लाहट में बात को संक्षिप्त करते हुए बोले—"तुम जाके भेजो उसे।"

"अभी भेजती हूं। लेकिन तुम्हीं लाड़ करते हो। और वक्त पर तुम्हीं हाथ भी उठाते हो। अब मत उठाना हाथ। कहे देती हूं।"

राम कुमार बहुत ही खीझ गये। उन्होंने माथे पर हाथ मार कर कहा—"अरे, बाबा, खतम करो। जाओ।"

"हां, खतम भी अब मैं ही करूं।" कहती हुई, बीबी जी कमरे से बाहर हो गईं।

राम कुमार क्षुब्ध-मन बैठे रह गए।

थोड़ी देर में वह वहां आई, जिसका नाम दुप्पी बताया गया था। वह द्रौपदी थी। सच्ची और पहली द्रौपदी कैसी होगी, पता नहीं। पर ऐसी रही हो तो भी महाभारत का काम शायद थोड़ा-बहुत चल जा सकता था। सुन्दर थी, यह कहना पर्याप्त नहीं। सौन्दर्य में जो अतिरिक्त था, वह ध्यान खींचता था। अवस्था अधिक नहीं थी। पर आंखों में अन्दर की दृढ़ता और प्रखरता झलक दे जाती थी।

राम कुमार जब अपनी इस कन्या को देखते, तो किंचित चकित रह जाते। 'वह सब इसमें कहां से आ गया है, जो हम इसके माता-पिता दोनों में किंचित् भी नहीं है? छुटपन से देखते आये हैं। बच्ची थी, तब भी सामान्य रूप और प्रकार की बच्ची नहीं थी। अपनी रखने और चलाने को जैसे छुटपन से ही इसके पास कुछ-न-कुछ हो जाता था।' आज इस समय उसको समक्ष देखकर राम कुमार को सचमुच लगा, कि ताड़ना-प्रताड़ना सब व्यर्थ है। भाग्य ही एकान्त समर्थ है। उन्होंने कहा—"बैठो, बेटी।"

द्रौपदी बैठ गयी।

"एक बात पूछूं, तो बताओगी?"

द्रौपदी चुप रही।

बोली। "जी।"

"तुम वहां रह सकोगी ?"

"जी।"

"रह सकोगी ?···लेकिन पत्नी तो उस घर मे मौजूद है ?"

"मैं निभा लूंगी।"

"क्या कह रही हो ?" राम कुमार कुछ देर निस्तब्ध रहने के बाद हौसला कर बोले—"निभा लोगी ? पर कैसे निभा लोगी ? उप-पत्नी बनकर ? विपत्नी बनकर ? एक्स्ट्रा बनकर ? तुम निभा लोगी, पर जानती हो कि कानून निभाने को तैयार नही होगा ? दूसरी पत्नी हो नहीं सकती।"

"आप उनसे बात कर लीजिए।"

"तुम किससे बात कर रही हो, मालूम है ? बाप से बात कर रही हो। मैं उससे क्या बात करूं ! यह कि तुम आने को तैयार हो ? और मैं तुम्हारा पिता तुम्हें वहां बिठाने को तैयार हूं ? यही बात करने को रह जाती है, "क्यो ?"

"वह सुखी नही है। बडे दुखी हैं, बाबू जी।"

"ओह ! तो वह सुख तुमसे हो सकेगा। तुम शायद यही सोच रही हो, कि उसे सुख मिलना चाहिए, और तुम सुख दे सकोगी।···विमला को तुम भाभी कहती आई हो। उसने तुम्हें मां का प्यार दिया है। उस दुलार का यह प्रतिदान दोगी ! क्या तुम सचमुच समझ सकती हो, कि विमला को दुख देकर तुम्हारे पास सुख बचा रह जायेगा, कि खुद पा सको या किसी को दे सको ? विमला की चिन्ता और चिता पर क्या तुम उसके पति के सुख के भवन का निर्माण करना चाहती हो ?"

द्रौपदी रो पड़ी। उसने अपने मुंह को हाथो से ढक लिया। हठात् बोली—"नहीं, नहीं, नहीं ! मैं उन्हें दुख नहीं दे सकती। किसी तरह मैं यह नहीं कर सकती। लेकिन वह तो—वह तो···मैं उनसे यही कहती रही हूं, पूछती रही हूं। वह कहते हैं—"

"क्या कहते हैं ? बोलो न, चुप क्यों हो गई ?"

"नहीं। नहीं, नहीं। मैं भाभी जी के दुःख का कारण नहीं बनूँगी। लेकिन वह कहते हैं—"

क्रुद्ध स्वर में पिता ने कहा—"यही तो पूछ रहा हूँ, कि क्या कहता है वह ?"

उच्छ्वास धीरे-धीरे समाप्त हो चुका था, और चेहरा भी हाथों से ढका नहीं रह गया था। द्रौपदी जोर लगाकर अटकते हुए कहा—"कहते हैं वह, कि वह मेरी कोई नहीं है। कभी कुछ नहीं रही है। मेरी फिक्र उसे क्या है ? उसने अपना सहारा पा लिया है।' 'मेरा कोई नहीं है। मा नहीं है, बहन नहीं है, भाई नहीं है। बाप हैं, और वह नहीं से भी नहींतर हैं। मैं हूँ, और मेरे चारों तरफ दुख ही दुख है।" कहते-कहते द्रौपदी फिर उच्छ्वास से भर गई। उसी तरह चेहरे को हाथों मे लेकर सुबक उठी। बोली, "बाबूजी क्या वह दुःख झूठ है ?—सब झूठ है ? प्यार झूठ है ? और क्या मैं झूठ के वश में थी ? नहीं, नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है ? वह बातें, वे वायदे, वे कसमें।... नहीं, नहीं। सब झूठ कैसे हो सकता है ? सब झूठ नहीं हो सकता है। ओ बाबू जी, मैं क्या करूँ ? मुझे और पीटिये कि मैंने झूठ को अपनाया है, धोखा खाया और धोखा दिया है। आपको परेशान किया है। लेकिन ओ बाबा, क्या वह सब झूठ था, फ़रेब था ? नहीं, नहीं। एक बार आपके सामने पूछ कर जान लेना चाहती हूँ, कि वह सब झूठ और फ़रेब ही था क्या ? सच कहीं एकदम न था ?"

कहते-कहते वह कुर्सी से नीचे गिर आई, और पिता के घुटनों से लगकर फफक-फफक कर रोने लगी। कहती जाती थी—"मुझे और मारिये, बाबू जी, और मारिये। मैं झूठ में आ गई, और झूठ रचती रही...पर क्या वह सब झूठ था ? सकता तो नहीं है। पर आप कह दीजिये कि वह झूठ था, और उसके लिए पाप किया, मारेंगे ठीक होगा।"

महाशय राम कुमार का चित्त पसीज गया। उन्होंने बेटी की बाहों को अपनी जांघों पर से खोलकर उसे उठाते हुए कहा—"उठो, बेटी। सामने बैठो। हां, ऐसे।" उसी की धोती का पल्ला लेकर आंसुओं से भरे उसके चेहरे को पोंछते हुए कहा—"स्वस्थ हो के बैठो, बेटी। तुम पढ़ी-लिखी हो, और अब एम० ए० हो जाओगी। माफ करो कि मेरा हाथ तुम पर उठ गया था। अब समझता हूं, कि वह गलती थी। क्योंकि तुमने झूठा आचरण किया भी था। तो उसके भीतर सच है, यह समझ कर किया था। समझा था तुमने कि प्यार की रक्षा कर रही हो, और जहां दुख है वहां सुख की सृष्टि करने में अपना विसर्जन कर कर रही हो। अब मैं समझ पाता हूं कि क्या चीज़ तुम्हें दृढ़ता दे रही थी। मैं जिद समझता था, पर जिद को भी जो एक आन थामे हुए थी, उसको मैंने नहीं देखा था। अब वह अन्याय मुझ से न होगा। लेकिन, बेटी, अब मैं तुम्हारी सच्चाई को देखता हूं, तो तुम्हें बतला भी सकता हूं, कि तुम भूल में थी, और झूठ में थी, कि तुमने एक नहीं, दो नहीं, पूरे आठ महीनों से हम लोगों से झूठा व्यवहार रखा, हमें झूठा आश्वासन दिया। और इसमें उस आदमी ने तुम्हें उकसाया, जिसको तुम कहती हो कि प्यार जानता और चाहता था। सोचोगी तो पता चलेगा कि यह सब कितना मिथ्या व्यापार था। प्यार तो सचमुच सच से भी बड़ा सच होता है। अगर उसमें डर आ मिला, और उसकी वजह से झूठ और चोरी भी आ गई, तो सोचो कि क्या वह मूल में प्यार भी रहा होगा? या कि वह असल में छल ही होगा?…विमला के लिए उसने कहा कि वह कभी उसकी कोई या कुछ भी नहीं रही। बारह वर्ष से वह उसका साथ देती रही है। हम सब ने देखा है कि उसकी जैसी परायणा पत्नियां आम तौर पर नहीं होतीं।…तुम्हें जो अपने घर में झूठ और चोरी का आचरण कराता रहा, जो स्वयं अपने घर में झूठ का व्यवहार करता रहा, फिर जो इतना कृतघ्न बना कि परायणा स्त्री के दुख की तरफ से विमुख होकर उसकी

सब तरह की निन्दा और कुत्सा तुम्हारे मन में डालता रहा, वह कैसे तुम्हें सच में ऊपर उठाने की सोच रहा होगा। ?···क्या इतना काफ़ी नहीं है, कि तुम देख लो कि प्यार के नाम पर जो विभ्रम तुम लोगों ने पैदा कर लिया था, उसमें कहीं कोई यथार्थता न थी, और वह एक कोरा झूठ था ? तुम बाद पर उसी को पकड़े रहना चाहती हो। लेकिन जिस पर मुट्ठी बांधी है, खोलकर जरा देखो कि क्या उसमें सचमुच कुछ है भी ! ··एक बात बताओ। पासपोर्ट बनने पर तुम लोग विलायत कब जाने वाले थे ?"

"फौरन चले जाते।"

"मार्च में ही ?"

"हां, शुरू मार्च में।"

"पैसे का क्या होने वाला था ?"

"जी ?"

"मैं उनकी हालत जानता हूं। पांच हजार का भी इन्तजाम उनके लिए आसान नहीं है। उसे कहीं उधार नहीं मिलेगा। फिर यह सब किलाबन्दी सच पर थी, यह मैं कैसे मान सकता हूं ? बल्कि वह षड्यन्त्र था। दुःखी बेटे, क्या मैं तुम्हारा सुख नहीं चाहता ? आखिर तुम्हीं कह चुकी हो, कि तुम्हें भरोसा था, कि जो तुम चाहोगी, तुम्हारे बाबू जी कभी तुम्हें उससे नहीं रोकेंगे। सोचो कि कुछ तो होगा, कि इस बात में मैं इतना उद्विग्न हो गया हूं। मन के रहते दूसरी कहीं नहीं हो सकती। ऐसा संबंध कानून को मान्य नहीं होगा, समाज को मान्य नहीं होगा। और वह भी विश्वासघात कहलाएगा। ··लेकिन बच्ची, कानून या समाज के उल्लंघन को भी समझ लिया जाता। इन दोनों चीज़ों को मैंने कोई ईश्वर नहीं माना है। मैंने माना है, कि प्यार इनसे बढ़कर है। ईश्वर प्यार में है, कानून में नहीं है। लेकिन सचाई में निश्छलता होती है। वह सचाई तुम लोगों के आचरण में कहां ? प्रेम सच है, इसलिये निर्भय और खुला होता है। तुम लोग कानून से छुप छिपाकर

भागना चाहते थे। शायद जरूरत पडने पर नाम तक बदलते और दबे-छिपे रहने की कोशिश करते। बोलो, इसमे तुम बडाई देखना चाहते थे? मालूम है, तब क्या होता? तुम कानून से भागते, और कानून तुम्हे पकडने पीछे-पीछे जाता। सोचते होगे, कि देश से पार विदेश मे जाने से कानून की गिरफ्त छुट जाती। वह बात सच नही है। देश-विदेश सब आपस मे ऐसे मामलो मे सहयोग करते है। सब देशो मे मोनोगेमी है। दुप्पी बेटे, तुम समझदार हो। इस साल एम० ए० हो जाओगी। तुम्हारी कोई स्वतन्त्रता मैं तुमसे छीनने वाला नहीं हूँ। लेकिन तुम्ही उस स्वतन्त्रता को अपने चारो तरफ से काट कर अपने को कैद-खाने मे डाल लो, तो इसमे मैं तुम्हारी कोई सहायता नही कर सकता। तुम वही करने जा रही हो। सच के प्रकाश से कटकर तुम झूठ के अंधेरे मे ही छिप कर अपना स्थान बनाने को रह जाती, और इसकी अनुमति मेरे पास से आ न सकती। अब भी देखो कि तुम बाल-बाल किस नरक की संभावना से बची हो। मैं पूछता हू, क्या है कि वह आदमी आज भी मेरे सामने नही आता है? जब पता चला, उसी क्षण से वह कन्नी काटता फिरता है। वह प्यार है, जो ज्योतिष्क और उद्ग्रीव होता है? मैं समझता हू, द्रौपदी, कि तुम पहचानोगी कि यह वह चीज है, जो मुह छिपाकर रेंगने को अंधेरी सीली गलियो और मोरियो को ढूढ़ती है। यह प्रेम नही है, कि जो एकमात्र पुण्य है। यह दम्भ और छल है, जो निरा और कोरा पाप है।"

"पाप!" द्रौपदी जोर से यह शब्द कहकर, हक्की-बक्की-सी अपने पिता को देखती रह गई। फिर अपने भीतर जाने कहा से शक्ति खीचती हुई बोली—"प्रेम पाप नही होता, बाबू जी।"

राम कुमार ने अतिशय स्नेह से कहा—"ठीक कहती हो, बेटी। प्रेम पाप नही होता। पाप है, और इसीलिए वह प्रेम नही है।"

"बाबू जी, मैं आपके हाथ जोडती हू। मुझे कुछ-कुछ दीख रहा है। लेकिन एक बार आप उन्हे बुला दीजिए। आपके सामने पूछ कर मैं

अपने मन में अच्छी तरह जान लेना चाहती हूँ, कि क्या जो था, वह सब झूठ था। नहीं, वह मुझसे झूठ नहीं कह सकते। मेरी आँखों में देखकर वह झूठ नहीं बोल सकते, कभी नहीं बोल सकते।"

"दुग्गी!"

"आपको विश्वास नहीं होता?"

"अविश्वास की बात नहीं है, बेटी। विस्मय यही है कि तुम जैसी सयानी को नहीं दीख रहा है, कि इस सारे मामले के भीतर कैसा धोखा है।"

"दीख रहा है, बाबू जी। दीखने लग रहा है। आप उन्हें बुलाइए तो। जो मुझे अब कुछ-कुछ दीख रहा है, देखूँगी कि उसी को वह देखने से कैसे इनकार करते हैं। आप कहते थे, कि उन्हें ज़िद है।"

"हाँ मुझे बताया गया है, कि ज़िद ही है। वह उस रास्ते से बाज़ नहीं आना चाहता, जिसे सीधी भाषा में अपराध का रास्ता कहना चाहिए। तुम्हारी वजह से मैं हाथ खींचे हुए हूँ, नहीं तो अपराध को रोकने के लिए कानून ने जो राहें तैयार कर रखी हैं, वह कब उनको दबोच लेंगी, मैं कह नहीं सकता। तुम्हीं बताओ, ज़िद का दूसरा इलाज हो भी क्या सकता है?"

"मैं बालिग हूँ, पिता जी। और बालिग लोगों की स्वतन्त्रता पर कोई कानून हाथ नहीं डाल सकता।"

राम कुमार का चेहरा मलीन हो आया। बोले—"मालूम, तुम पढ़ी-लिखी हो। शायद तुम समझती हो, कि कानून के बारे में तुम नहीं भोली हो। इन सब में मैं नहीं जाता। पुलिस और अदालत में मैं तुम लोगों को उलझाना नहीं चाहता, मगरचे वे चीजें मनहूस स्थान हैं। मैं असल में तुम्हारा डर ही दूर करना चाहता हूँ। डर ने ये ही जो बना, सो बना। लेकिन अगर डर बिलकुल दूर नहीं होगा, और सच का सामना करने में डरना और झूठ की राह लेना तक चाहती हो, तो डर लगता है कि इनकी मुठभेड़ का सामना भी तुम से किया नहीं

रहेगी। इसमे कोई कुछ नही कर सकता है, वेटी, कि अपराध को कानून से निबटना पडे। फल क्या होगा, निश्चित नही है। लेकिन परिवार भग हो, और दमन और विद्रोह का आमने-सामने द्वन्द्व हो निकले तो यह खानदान के लिए या किसी के लिए भी शोभा की बात नही होगी।"

"पिता जी, धमकाइए नही।"

"वेटी, तुम को धमकाने के लिए कोई और आने वाला नही है। मुझको भी बन्द करती हो, तो लो बचा-खुचा मै भी बन्द हो जाता हू। लेकिन छोडो। बात अपने बीच मे है। दमन और दलन का जो यन्त्र खडा है, वह दूर और बाहर है, और उसके आवाहन के लिए मै आतुर नही हू। लेकिन ''बोलो, बात करोगी ? उसे बुलाऊ ? फोन करू ?"

"हा। बुला लीजिए।"

"क्या तुम इजाजत दोगी, वह आये, तो पहले मै ही उनसे बात करू ?"

"क्यो ? आप धमकाइएगा तो नही ?"

"इसीलिये कि क्यो का प्रश्न अभी तुम्हारे मन मे टगा दीखता है ? नही, धमकाऊगा नही।"

"बाबूजी, आप लोग उन्हे दुश्मन न मानिये। वह दुष्ट भी नही है। ऊपर से जोर पडता है, तो वह अन्दर से कस जाते हैं। लेकिन मेरा अहित वह किसी तरह नही कर सकते। मै उनका हित सोचती हू कि कह दू, कि 'देखो तुम्हारा हित इसमे नही है, और तुम अपना हुआ ब्याह निभाओ।' धमकाने से जिद बनेगी, बाबू जी, और वह नही झुकेंगे। और वह अपनी तरफ से नही छोडेंगे, तब तक दिया वचन मैं अकेली लौटा कैसे सकती हूं ?"

राम कुमार ने आवेश मे आकर कहा—"क्या ? फिर वही ?'

'हा, बाबूजी, दो के बीच का वचन एक कैसे तोड सकता है ? कानून अगर ऊपर से तोड देगा, या आप लोगों की खातिर वह टूटेगा, तो क्या वह अच्छी बात होगी ? मन के अन्दर वह अगर बचा ही रह जायेगा,

तो इससे क्या होगा, बापू जी ? क्या आपकी देवी का जीवन कम स्वच्छ और सुखी होगा ?"

"क्या कहती है तू, द्रौपदी ?"

"यही कहती हूं, बापूजी, कि अगर आप पहले उन से बात करना चाहते हैं, तो जरूर करें। लेकिन धमकी या जोर से काम लीजिएगा, तो फिर आगे का काम मुश्किल हो जाएगा। और मुझसे न बन सके, तो फिर मुझे दोष मत दीजिएगा।"

"तुझे विश्वास है, कि तू संभाल लेगी ? यह तू कहे, तो मैं भी कर सकता हूं।"

"विश्वास की बात कहां है, बापूजी ? उन पर मैं आरोप नहीं लगा सकती। प्रेम कठिन तभी तो होता है, जब प्रतिरोध भी हो। मैं इसमें निर्दोष तो नहीं हूं। इसलिये उनकी ओर से मैं कुछ भी नहीं कहूंगी। लेकिन वह, कुछ भी हो, मेरे सामने झूठ नहीं कहेंगे। ऐसा साहस कभी नहीं करेंगे। मुझे लग रहा है, कि जो हुआ, ठीक नहीं हुआ। सब तरह उसमें उलझन ही देख रही हूं। मुझे सोचने लग गया है, कि हमारे प्यार की सचाई में जरूर कहीं-न-कहीं कच्चाई रही होगी। नहीं तो झूठ हम नहीं अपनाते, न आस-पास के लोगों के सुख को इतना नगण्य मान अपने ही सुख को बड़ा गिनने लग जाते। ऐसा हुआ, तो प्यार में कहीं-न-कहीं स्वार्थ रहा ही होगा।

"सच द्रौपदी !"

"हां, बापू जी। यह मैं देखती हूं। और सब तरह उन लोगों ने बहुत कुछ एक नजर से देखा है, और एक मन से स्वीकार किया है। इसलिये समझती हूं, कि जो मैं देखने लगी हूं, वह वह भी देख सकेंगे। और जिन्होंने बात और समझ कर फिर मानी है, वह मान जाएंगे।'

[illegible] सुन कर [illegible] उत्साह में [illegible],
और कन्धे से द्रौपदी को पकड़ कर बोले—"शाबाश, द्रौपदी !" [illegible] द्रौपदी को चूमा। बोले—'अब मुझे [illegible]

बात करने की कोई जरूरत नही। न यहा तुम्हारी बातो के बीच शायद मौजूद रहने की ही जरूरत है। तुम दोनो खुलकर बात क और पीछे मुझ से कहना।"

"नही, बाबूजी," द्रौपदी ने कहा—"आपको अपना मन जरूर र कर लेना चाहिए, और उनसे भरपूर कह-सुन लेना चाहिए। बस, मे पुलिस वगैरा को मत लाइएगा। आखिर आत्मीयो में डर-लिहाज बात क्या है ? गलती हम लोगो की तरफ से यही तो हुई, कि ड बचाव से काम लिया। तभी जो हमने सच माना था, वह संशय से होने के कारण अन्त मे झूठ निकला। और आत्मीयता मे गुस्सा व हो, तो वह सब निकल-निकला कर आखिर भलाई को ही राह देता इसलिये आप मेरे परोक्ष मे हर तरह उनसे अपने मन की कह-सुन लं येगा। बख्शने की बिल्कुल न सोचिये। सिर्फ बाहरी धमकी को लीजियेगा। और यह भी जरूरी है, कि आप रहे, जब हम दोनो बातें हों।"

"नही, नहीं, दो जवानो के बीच मे मेरा क्या काम ?" और प्र भाव से अपनी बेटी द्रौपदी को दोनो गालो पर थपथपा कर, वह तरफ रखे हुए टेलीफोन की ओर बढकर, चोगा उठाकर, डायल लगे।

अप्रैल '६२

वे दो

"आओ, अजित आओ, बैठो ।"

महाशय राजकुमार ने उस युवक के अभिवादन में कहा जो हर तरह योग्य जान पड़ता था और जिस पर व्यक्तित्व की झलक दीखती थी।

युवक ने तनिक झुककर प्रणाम किया । कहा, "आपने मुझे याद किया था ?"

"हां । मैंने खुद फोन किया था । तुम उस वक्त थे नहीं । विमला थी । असुविधा तो नहीं हुई ?"

"मैं क्या आपके लिए इतना दूर बन गया हूं बाबूजी कि सुविधा पूछी जाए ?"

राजकुमार जी ने एक भरा सांस लिया । कहा, "हां । दूर तो बन गए हो कुछ । लेकिन मैंने यह नहीं सोचा था । यह सब कैसे हो गया ? तुम लोग रह क्यों नहीं सके ?"

"आप शायद समझते नहीं । मैं बहुत अकेला हूं बाबूजी ! कोई मेरा नहीं है । आप यह सब कैसे समझते और मैं कैसे समझाता ? हमदर्दी कोई बुरी चीज तो है नहीं, वही बढ़कर प्यार बन जाए तो क्या उसमें बुराई है ? ...लेकिन बुराई देखी जाती है । जहां से उसमें बुराई दीखती है, वहां आप लोग हो सकते हैं । समाज के नीति और नियम की रक्षा तो आप बड़ी चाव समझ सकते हैं । उसी लिहाज से बुराई को भी फिर पार सकते हैं । लेकिन यह सब आवश्यकता हमारे जैसे प्राणों को तो होती नहीं है । आवश्यकता होती है सहानुभूति की, स्नेह की, सिम-पैथी की !"

"ठीक ! तुम अपने बारे में बहुत विश्वस्त हो !"

"अपने किस बारे मे बाबूजी ? यह कि नियम हम कम देख पाते हैं और स्नेह को ज्यादे मानते हैं। यह बात तो सच है।"

"विमला को तुम स्नेह नहीं करते ?"

"नहीं।"

"व्याह तो किया है !"

"हां।"

'वह भी तुम्हें स्नेह नहीं करती ?"

"यह नहीं सकता।"

"स्नेह को तुम मानते हो ?"

"उसी को मानता हूं।"

"द्रौपदी को तुम कब से जानते हो ?"

"आप क्या पूछ रहे हैं ?"

"नहीं, बताओ। वह उस समय सत्रह वर्ष की रही होगी। इंटर मे आई थी और तुम नये लेक्चरार लगे थे । तब से ही न यह स्नेह अनुभव हुआ होगा । उससे पहले तुम्हारे स्नेह की क्या दशा थी ? माफ करना यह जिरह नहीं है । स्नेह को समझने की बात है । स्नेह तो जीवन है, क्यों, है न ? अर्थात् उसके बिना जीना हो नहीं पाता। यौवन को तुम महत्व देते हो और ठीक देते हो । लेकिन स्नेह के बिना शैशव और वार्धक्य भी नहीं कट सकता है। अर्थात, तुम लोग स्नेह पर अपना आधिपत्य मानते हो। यही यौवन की भूल है । अब सोचो और बताओ कि द्रौपदी इंटर मे आई और तुम कालेज मे आए तो उससे पहले स्नेह तुम दोनों के जीवन मे अनुपस्थित तो न होगा न ? अपने-अपने वृत्तो मे, फल-फूल रहा होगा।"

मर्जीत को अच्छा नहीं लगा। उसने कहा, "आप क्या चाहते हैं ?"

'तुमको बुलाया है और साथ कुछ समझना-सोचना चाहता हूं। मुझे परिस्थिति ऐसी लगती है कि—"

"क्या बात को आपने समझने-सोचने से आगे नहीं बढ़ा दिया है ?

पिता जी के पास आपका धमकी का पत्र है।"

"हाँ, बात आगे बढ़ गई है और तुम शायद उसे अब पीछे नहीं लेना चाहते हो। तब तो उसे और भी आगे बढ़ने से रोका नहीं जा सकता!"

"बढ़िए, और बढ़ाइए। मैं आपको रोकूँगा नहीं। आपने शायद भाई जी पुलिस से बात की है। और सबसे भी चाहें तो कीजिए। लेकिन आप भी नहीं रोक सकेंगे और हम भी नहीं रोक सकेंगे। प्यार गलत चीज नहीं है और कोई उसे रोक नहीं सकेगा।"

"तुम समझदार हो अजीत! मन में सही और गलत नहीं होता, काम में हुआ करता है। यहाँ वह इतना ज्यादा होता है कि उस शरीर की इज्जत के लिए ही शायद हम रहते हैं और दुनिया उसमें बस रही है। पत्नी रहते हुए विवाह दूसरा नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि संग साथ चाहने वाला प्रेम भी नहीं रखा जा सकता? केवल मन में रहने वाला प्रेम हो तो कौन रोक सकता है? तुम लोग तो साथ रहना चाहते हो! तुम जानते हो, यह संभव नहीं है।"

"मैं तलाक ले सकता हूँ।"

"तो लेने तक ठहरे क्यों नहीं? साथ साथ विदेश भागने की कैसे ठन गई!"

"तलाक में समय लगेगा।"

"तो इतना धैर्य रखना चाहिए था।"

"धैर्य!" कहकर अजीत एक फीकी मुस्कान से मुस्कराया। कहा, "माफ कीजिएगा। हम लोग उतने ठंडे नहीं हैं। ठंडक को गुण नहीं मानते···उपदेश उसी ठंडक में से आता है और वह वृथा है। आपको उस ऊँचाई पर बैठकर बात करनी थी तो मुझे बुलाने की जरूरत नहीं थी। आप द्रौपदी के पिता हैं। लेकिन जिन्दगी उसकी अपनी जिन्दगी है। आप अपने दायरे में, अपने विचार के दायरे में उस जिन्दगी को घेर कर नहीं रख सकेंगे। चाहेंगे तो व्यर्थ पछताइएगा···मैं भी उस विवाह में फँसे रह कर रह जाता हूँ जो मेरे विचार और विस्तार में

बाधक है और जिसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं। वह जिसे पत्नी कहा जाता है, साथिन नहीं है। और हम दोनों एक-दूसरे का साथ नहीं दे सकते तो विवाह को समाधि बनाकर उसके नीचे स्वयं शव बनकर जीने का कोई अर्थ नहीं है। विमला आजाद है और तभी से आजाद है, जब द्रौपदी का मेरा परिचय हुआ। उस पर मेरा कोई अधिकार, कोई आरोप नहीं गया है। मैं···"

"तुम में नैतिक साहस देखता हूं अजीत! और यह अच्छा है। लेकिन फिर ये चोरी-लूट क्यों चलता रहा?"

"आप समझ न पाते। माता-पिता अगली पीढ़ी को समझ नहीं पाते हैं।"

"यह जोखिम भी तुमने क्यों नहीं उठाया? विद्रोह कायरता से तो अच्छा रहता है!"

"आज मैं जरूर यह सोच रहा हूं कि कायरता हमने क्यों दिखलाई। हो सकता है कि कायरता वह न हो, करुणा रही हो। आप लोगों का चित्त हम नहीं दुखाना चाहते थे।"

"अब तुम देखते हो कि चित्त दुखा नहीं है, फट गया, टूट ही गया है। उस वक्त तुम लोग खुलकर सामने आ गए होते तो मैं समझता कि तुम्हें दुःख का ध्यान है। और दुःख देने की कीमत देकर तुम लोग हमको एकदम बाद दे देना या तोड़ डालना नहीं चाहते। मैं उसको साहस कहता। चाहे सहमत न होता और विरोध भी करता, पर भीतर ही भीतर उसको सराह सकता। लेकिन जिसको तुम करुणा कहते हो, करुणा नहीं थी, लिप्सा थी। लिप्सा की इसीसे तुम्हें कायर बनना पड़ा। और इसीसे जरूरी होता है कि तुम यह रास्ता छोड़ो, सीधा रास्ता पकड़ो।"

"सुनिए, बाबूजी!" बात पकड़कर अजीत ने कहा, "इसने का रास्ता हमारे लिए सीधा नहीं है। प्रेम के रास्ते पर सीधा चलने और इसी को सीधा सिद्ध करने के लिए जवानी आती है और उस चुनौती

से हम पीछे नहीं हट सकते। आपने अपने पितृत्व के कर्तव्य में प्रति-बद्ध होकर शायद समस्या को यह रूप दे दिया है। आपने धमकी दी है और चुनौती फेंकी है। मैं सुनकर कहता हूँ कि मैं उस चुनौती को उठाता हूँ और आप जो चाहें कर लीजिए। होगा वही, जो अटल है। हम लोगों की प्रतिज्ञा बचपन की नहीं है और वह टूटना नहीं जानती।"

राजकुमार जी को जाने कैसा लगा। वह भीतर ही भीतर भन्ना आए। व्यंग्य में हँसकर बोले, "तुम दोनों की प्रतिज्ञा कुछ हो सकती है, लेकिन समाज की भी कुछ प्रतिज्ञा है। उसका आग्रही और संरक्षक बन कर राज्य का तंत्र खड़ा हुआ है। उससे तुम बच कर भागने की सोचोगे, यही न?"

"वही मैं आपकी सलाह लेना चाहता हूँ। बताइए हम क्या करें? हम जीवन के आरम्भ में हैं, हमारी सहायता कीजिए।"

"सहायता यही है कि सब भूल जाओ। अभी तो भूल ही जाओ। अगर घर में तुम्हारे कलह बढ़े और तलाक जरूरी हो जाए और मिल भी जाए तब जो हो सोच लेना। तब तक मन को शासित रखो और अपनी परीक्षा में रहो।"

"हम चले जा सकते हैं दूर, जहाँ कोई हमको नहीं जानता।"

"वहाँ भी साथ रहोगे तो नाम बदल कर और रखैल का रूप देकर ही तो रह सकोगे? नहीं तो कानून में आ जाओगे।"

"क्यों, दो वयस्क जन साथ नहीं रह सकते?"

"विवाहित पत्नी के रहते रह सकते हैं?"

"वहाँ कौन हमें जानेगा। नये नाम से नया जीवन शुरू करेंगे। और कोई उंगली उठानेवाला नहीं मिलेगा।"

"दलीप, तुम मानते होगे कि विचारशील आदमी में साहस होना चाहिए। लेकिन यह न भूलो कि वह छोड़कर भाग रहा है। इसमें क्यों नहीं सोचते कि उसी को सहते हो कि तुम अपनी भार्या की [illegible] का आदेश दे?"

बीच मे ही अजीत ने कहा, "और आप अपने को विचारशील कहते हैं ! यही आपकी विचारशीलता है ? बाप होने भर से बेटी को अपनी चीज मानते है और उसके जीवन का भला-बुरा नही सोच सकते। अपनी और समाज की नीति को रखने और सन्तान के मन को कुचल कर मार डालने की जो बात करता है वह अपने को विचारशील कहता है ! ...मै चलता हू। सब व्यर्थ है।"

"बैठो, बैठो !" राजकुमार जी ने उठते-उठते अतिथि को टोकते और रोकते हुए कहा, "ठीक कहते हो तुम कि शायद पिता मुझ मे बोल रहा है। इस समय विचारशीलता उसके अधीन हो गई हो सकती है। लेकिन द्रौपदी से तुम्हारा परिचय हुआ, उससे पहले उसे स्नेह कहा से मिलता था ? और उसका स्नेह किसको मिलता था ? उस सबको बीता कहकर आज तुम क्या किसी तरह अस्त और अवर्तमान कर सकते हो ? यह बात सच है कि तुम्हारी पत्नी के जीवित रहते मैं यह कभी नही होने दूगा कि वह तुम्हारे संग-साथ रहे ! इसको रोकने के लिए कानून की सब शक्ति का आवेदन करते भी मैं नहीं झिझकूगा। तुम्हारा मन और द्रौपदी का भी मन बाद मे आता है, तुम्हारा असली सामाजिक हित पहले है। उस सहवास मे से विष और नरक उपजता है जिसको बाहर की ओर से विश्वास और सद्भाव नहीं प्राप्त होता और इसलिए जो दो मे ही घुटकर रह जाता है। प्यार प्रकाश चाहता है। अन्धेरे मे ही जिसको रहना पड़ेगा, वह प्यार इतनी जल्दी खट्टा और कसैला हो जाएगा कि उसमे से द्वेष की लपटें फूट निकलेंगी। मैं यह सब आज ही देख सकता हू। तुम नही देख सकते, क्योकि बीच के वे वर्ष तुमने अभी पार नहीं किए है, जिनमें वह दर्शन प्राप्त हुआ करता है। लेकिन सिर्फ इस अनुभवहीनता के नाम पर तुम लोगो के समान घरवालों को दुख झेलने के लिए नही कहा जा सकता। यह छोड़ो। एक बात बताओ, विमला पर तुम्हें भरोसा है ?"

"जी !"

"ख्याल मत करना। बड़ी प्यारी बेटी है यह। और ऐसी तुम्हें ढूँढ़ कर भी नहीं मिलेगी।"

"आप क्या कह रहे हैं?"

"कुछ नहीं। विमला के कारण तुम भाग्यवान हो।...हो सकता है, तुम्हारे स्वभाव से तुमसे प्यार न पा सकने की लगन में, वह निर्भीक न हुई हो और तुमसे उसने कोई दावा भी न ठाना हो। न विवाद उपस्थित किया हो। लेकिन तुम उसे गलत न समझना।"

"आप यह बात न कीजिए। अपनी बात कहिए।"

"अपनी ही कहता हूँ। द्रौपदी अपनी ही है, विमला अपनी है तुम अपने हो। द्रौपदी को विमला ने कितना-कितना प्यार किया है। उसीके कष्ट की पूँजी से तुम कोई योजना आरम्भ न करना। विमला को दूर जाना पड़े, टूट जाना पड़े, ऐसा कोई काम भूलकर न करना।"

"आप छोड़िए उसको, उसकी चर्चा को।"

वकील के स्वर में शब्द का उतार पहचान कर उन्होंने कहा।

"क्यों बेटे, क्या बात है?"

"जाने दीजिए। वह बात न छेड़िए।"

"क्यों, क्यों? लो, नहीं छेड़ता हूँ। तुम दुःखी न हो। लेकिन क्या बात है?"

"कुछ नहीं! कुछ भी नहीं!" कहते-कहते वकील सहसा उद्दीप्त हुआ और बोला, "मैं तो हूँ, मन में कोई चिन्ता नहीं है। और चाह द्रौपदी के लिए है। इसलिए जो थोड़ा-बहुत लिहाज मेरे मन में आपके लिए रहता है उसको इतना ध्यान न कर जाइए।...वह बताइए, आप द्रौपदी को भूल नहीं सकते? वह घर में नहीं है?"

"कृतज्ञता! उसे भी कृतज्ञता। और तुम लोग नाक चढ़ाओगे। और मैं भूल जाऊँगा।" कहते-कहते वे अपनी जगह से उठ आए, और वकील के पास पहुँच कर धीमे धीमे उसके कंधे पर थपकते हुए बोले, "बेटा, मैं यहीं हूँ तुम्हारे लिए जो था। क्या बात है? ..."

हू, तुम दुखी हो। ऐसी बात क्या है ?"

अजीत का गला भर आया। उसने कहा, "कुछ नहीं।" और हठात् कंधे पर आए उनके हाथो को उसने हटाया। कहा, "आप मुझे छोड़ दीजिए। मैं अकेला हू और अकेला रह सकता हू। और किसी से कुछ नहीं मागता हू।"

रामकुमार एक-दो कदम पीछे हट आए। बोले, "मैं अभी द्रौपदी को बुलाता हू। तुम लोग बात करना और मैं यहा न रहूगा। और तुम सशय मे न रहना।" कहकर रामकुमार मेज की तरफ बढे कि बटन दबाकर घंटी दें। तभी अजीत ने कहा, "ठहरिए। अभी दुप्पी को न बुलाइए। मैं आप से जाने कब से कहना चाहता था, हिम्मत नही होती थी। आप—आप बैठ जाइए।"

राजकुमार बैठ गए और भीगी वाणी-से बोले, "बेटा, कहो क्या बात है ?"

अजीत का गला भरा आया, 'क्या कहू, बाबूजी ! मेरी मा नही है। भाभी, बुआ कोई नही है। बहिन नही है। पिता जी मुझ से बचपन से जो रूठे है, सो ऐसे रूठे हैं कि वह नही के बराबर हो गये हैं। वह मुझे मन से छोड़ चुके हैं। मै उनका इकलौता हू और जानता हू कि सारे प्यार के लिए उनके पास एक केवल मैं हू। लेकिन वह मुझ से खारिज है और उनकी अब सब आशाएं मुझ कुलांगार से उठ चुकी हैं। दुनिया में सब तरफ देखता हू। कही कोई अपना नहीं है। विमला—उसकी न कहू तो अच्छा है। वह ब्याहता है, पत्नी है, और आई तो यहीं भी तो थी। मैं शायद योग्य नही था और कसूर मेरा ही रहा होगा। मै अकेला पड़ता गया और वह अकेली पड़ती गई। और अगर अब वह वही से अपने लिए थोड़ा-बहुत मान पा लेती है और वहा से दो एक बूंद रस ले लेती है, सो मैं यही तो कह सकता हू कि देवी-अर्द्धांगिनी धन्य है ! यह भी मैं नहीं और मानता हू कि मैं वंचित रह गया हू, ठगा रह गया हू। क्योंकि अगर वह वहीं से बूंद रस लेती है तो

इसीलिए कि इधर सब वीरान है और उसकी प्यास प्यासी ही रह जाती है । इस अपने सिर को लेकर मैं कहा जा मरू कि जो तन मन के साथ दिमाग का भी साथ चाहता है । पतिव्रता ठीक है । लेकिन जिन विषयो पर मुझे रस है, क्या उन पर भी मुझे कोई साथ और सहारा नही चाहिए ? और मै जितना सोचता हू, एकान्तता बढती जाती है और मेरी आवश्यकता भी उतनी ही निविड होती जाती है ।'' द्रौपदी मिली थी' 'आप उसके पिता हैं ।'' आप जानते हैं, मै सिगरेट पीता था । शराब पीता था । रुपया उडाता था । उडते रुपये को ऐसे देखता था जैसे फूटते सूरज की किरणो को कोई देखता है । बडा अच्छा लगता था और उस रम्य दृश्य के और अपने बीच मे सिगरेट के उठते हुए झिलमिले धुएं को बीच मे डालकर उस सब को आख-मिचौली के खेल मे स्वर्गीय स्वप्निल बना लेता था । तब वह दृश्य मुझे बडा गुदगुदाता था ।'''अब वह सब खतम हो गया है । शराब छूता नही, सिगरेट एकदम छूट गई । और उन रगीले-सजीले सपनीले मुग्ध दृश्यो से भी नाता मैने तोड़ लिया । क्यो ? क्योकि आपकी कन्या द्रौपदी देवी थी । उसने मुझे उत्कर्ष का मार्ग दिखाया । उसके कारण मैने इन्सान बनना शुरू किया है । उससे मैंने कल्पना सजाई है कि मै सचमुच कुछ बन सकता हू और कर जा सकता हू ।' 'विमला खुश है तो खुश रहे । खुशी जहा से ले सकती है, वह स्थल आबाद और खुशहाल बना रहे । इस भावना को लेकर मैं घर से बाहर भटक गया हू और मैंने सबके लिए सुख की कामना की है । उसी मे जोर पड़ने पर सिगरेट और शराब आ गए तो आ गए, अन्यथा मैं उधर जाना नहीं चाहता था । जो गया एकबार उसे लौटना सभव नही हुआ करता । द्रुप्पी ने सब सभव कर दिया है । उसने जानवर को आदमी बना दिया है । आप चाहिए तो मुझसे उसे छीन लीजिए । आपकी कन्या है, आपका सब है । लेकिन मैं अपनी तरफ से उसे छोड दूगा तो रह ही कहा जाऊगा । मेरे लिए एक वही है । दूसरा कही कोई ठोर-ठिकाना मुझे नही है । अब आप क्या करते

हैं, समाज क्या करता है, राज क्या करता है—इसमे मैं क्या कह सकता हूं ? मुझे अगर जीना है, जीते रहना है तो कोई कुछ करे, मेरे लिए दूसरा रास्ता नही है। आपका बाप का हक है, मेरा कोई हक नहीं है। जानता हू पति हू और पत्नी जीवित है। और मै भरसक अपनी छत्र-छाया उस बिचारी भोली विमला पर से हटाना नही चाहता। इसी-लिए तलाक की बात नही सोची और अब भी सोचना टालना ही चाहता हू। लेकिन अगर और राह नही है तो आप से सौगन्ध खाकर कहता हू कि मानसिक या शारीरिक या कहिए तो आर्थिक कोई संबध उधर नही रखूगा और परिपूर्ण पार्थक्य का पालन करूगा। लेकिन मुझे जीने दीजिए। सभव हो सकता है कि निकम्मा ही मै न निकलू और कुछ काम की किरणें भी मुझसे फूट निकलें। बाबूजी, मै आपका हूं, मुझे अपना बनने दीजिए। मै दुष्ट नही हू, अपराधी नही हूं। लेकिन कभी लगता है कि रास्ता मुझे नही मिलने दिया गया तो मै सब कुछ, सभी कुछ बन सकता हूं। सच कहता हू, बाबूजी, इस वक्त कुछ मुझ से बाहर नहीं है। देवता भी बाहर नही है और दानव भी बाहर नहीं है। कुछ और मतलब न लीजिएगा। लेकिन हत्या भी करनी पड़ जायगी तो इन हाथो से हो सकेगी। यह मैं बिल्कुल संभव और आसान मानता हू।"

"अजीत !"

राजकुमार जी ने देखा कि अजीत टूटने के किनारे आ गया है। जाने कैसे वह अपने को और अपने आंसुओं को थामे हुए है।

सम्बोधन सुनकर अजीत चौंका। वह एक क्षण सूना सा सामने देखता रहा। जैसे आखों मे दृष्टि न हो या आंखों के पीछे की समझ मे से सुध-बुध गायब हो गई हो। फिर वह सहसा उठा और राजकुमार जी के चरणों में गिर कर फूट उठा, "मेरा कोई नहीं है, कोई नहीं है, बाबू-जी ! मेरी रक्षा कीजिए।"

राजकुमार जी पसीजे और गल कर इतने अने कि पाठ बन गए।

उनको कुछ सूझा नहीं। तभी एक हाथ बढ़ाकर उन्होंने बटन को दबा दिया। जोर से दबाये रहे। घर के अंदर बजती हुई घंटी की आवाज इस कमरे तक साफ कानों में आकर पड़ती थी। अजीत ने भी वह गूंज सुनी। वह तनिक घबराया।

राजकुमार जी ने कहा, "बेटा उठो, द्रौपदी आती होगी।"

द्रौपदी आती होगी। क्या सचमुच वह आती होगी ?·· अजीत राजकुमार जी के चरणों में से उठा और झटपट उसने सर्वथा स्वस्थ हो जाना चाहा।

"बेटा, ठीक बैठ जाओ। मुंह-उंह पोंछ लो। तुम्हें स्वस्थ और प्रसन्न दीखना चाहिए। है न ?"

अजीत ने जल्दी अपने कपड़े संवारे और आगे बढ़कर आलमारी के शीशे के सामने जाकर बाल-बाल ठीक किए और संभल कर गहरी एक काऊच में निश्चितता के साथ हो बैठा।

तभी द्रौपदी ने कमरे में प्रवेश किया। राजकुमार जी की उधर ही निगाह थी और अजीत की जानबूझ कर पीठ थी। द्रौपदी एक क्षण ठिठकी। फिर आंधी की तरह भागती हुई आई और दोनों बांहों से बैठे हुए अजीत की गर्दन में झूल पड़ी। उच्छ्वास के साथ बोली, "भाई साहब!"

राजकुमार जी आंख में भर कर आते हुए आंसुओं को रोककर हठात् आंखों को पोंछते हुए चुपचाप कमरे से बाहर निकल आए। उन दोनों को मालूम भी नहीं हुआ। बाहर आते ही उन्होंने दरवाजे की चटखनी लगा दी।

घर के अन्दर पहुंचे तो घर की मालकिन ने पूछा, "क्या हुआ ?"

बोले, "कुछ नहीं। सब ठीक है। दोनों अन्दर हैं।"

"यह क्या गजब कर दिया है तुमने!"

"फिकर न करो। बाहर से चटकनी बन्द है।"

* *

आधे घंटे बाद कमरे के दरवाजे पर अन्दर से लगातार थप्-थप् की आवाज आती ही चली गई तो दरवाजा खोलना पड़ा। दोनों के चेहरे पर स्वर्ग लिखा हुआ था। अजीत ने राजकुमार जी के पैर छुए, माताजी के भी पैर छुए और कहा, "द्रौपदी का कोई भाई नहीं है, सब कहते ही हैं। आज से सामने यह सगा भाई इसका खड़ा है। इस बात को आप लोग कभी न भूलियेगा।"

अजीत की आंखों में आंसू थे और वह हंस रहा था। ☺

जुलाई '६३

छः पत्र, दो राह

(१)

प्रिय बिम्मी !

तुम्हारे पास से आने मे मुझे शाम हो गई थी। बहुत अच्छा लगा था और मन लौटकर किसी दुनिया के काम-धाम के लिए बाकी नही बच गया था। मैंने कहा था कि मीटिंग है, लेकिन मीटिंग मे मैं नही गया। सब तुच्छ लगता था और तुम लोगो की खुशी को देखकर जो खुशी मैं अपने मन में भरकर लाया था, उसे बखेरना नही चाहता था इसलिए शाम का सब कार्यक्रम टालकर मै चुपचाप पाव-पाव पास गाधी समाधि पर चला गया। वहा एक तरफ घास पर तब तक बैठा रहा जब तक उठना जरूरी नही हो गया। समाधि शान्त थी और धीमे-धीमे नीरव भाव से उतरती हुई सन्ध्या बडी सुहावनी लग रही थी। जैसे छू कर और छन कर मेरे भीतर ही उतरी जा रही हो। मुझमे बड़ा सुखद उजाला था। लेकिन बिम्मी मैं नही जानता कि कैसे धीरे-धीरे मुझमें एक अंधियारा छाता चला गया। जैसे कोई भार चित्त को दबा रहा हो। मैंने याद किया, तुम दोनो की उन किलकारियो को, ऊधम को, दंगे को, मस्ती को, जो मेरी उपस्थिति तुममे और उमगा देती थी, रोक तो क्या पाती। तुम पीछे से आकर कुर्सी पर बैठे नीरज के कधों पर झूल गई थी। तुमने उसके बालो को सहेजा, फिर धीरे-धीरे तुम्हारे हाथ उसके कानों की लौरी को सहलाने लगे। फिर ये उगलिया उसके गालों पर घूमी और मानो फिर ओंठो को पुचकारने लगीं। तभी तुमने एकाएक झुककर उसके बाएं कान की कोर को दातो के बीच देकर काट डाला। नीरज 'सी' ! करके जो उठा तो उसने तुम्हारी हाथ की उगली

को पकड़ कर चबा लिया ! तुम दोनों बिगड़े और फिर खिलखिला पड़े । सच मानो तो ये सब देखकर मैं धन्य अनुभव कर रहा था । लेकिन फिर भी जाने क्यों, घनी और गहरी होती हुई सांझ के साथ मुझ पर एक भारीपन बैठता चला गया और मेरा मन जाने कैसे त्रास-से भर गया ।

गांधी-समाधि से लौटने में मुझे रात हो गई । मैं खाना नहीं खा सका और पत्नी ने पूछा, तो कुछ बता भी नहीं सका । वह नाराज हुई और बिगड़ी और मैंने झिड़क दिया । उनकी आदत तो नहीं है कि मुझे सहमा छोड़ दें । लेकिन इस बार उन्होंने कुछ जिद नहीं की और मुझे अकेला छोड़ दिया । अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं किसी से बात नहीं कर सकता था । मेरा मन इस पर भारी था कि जिस प्रसन्नता को अपने झोली में भरकर मैं तुम्हारे पास से लाया था । वो जाने किस विष गहरे विषाद में बदल गई थी और मुझे थाह नहीं मिल रही थी । जैसे मैं डूबा जा रहा था, और वह तल न आता था, जहां पा लूं कि बस अन्त है, पीड़ा आगे नहीं जा सकती ।

सोया तो मैं अवश्य, लेकिन आंख जल्दी खुल गई । अब चार बजा है । मैं बिस्तर पर हूं, कमरा अकेला है और तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूं । जानता नहीं मैं क्या चाहता हूं । शायद कुछ भी नहीं चाहता हूं ! उपदेश तो दे ही नहीं सकता । उम्र मे बड़ा हूं, काफी बड़ा हूं, लेकिन अब तक यह नहीं सीख पाया हूं कि जवानों की जवानी कोई दोष है या वह किसी तरह हल्की अकलमन्दी है ! अनुभव को और वय को मैं बहुत महत्व नहीं दे पाता हूं और मुझे लगता है कि भीतर से आता हुआ प्राणों का वेग जो लकीरों को नहीं देख पाता, नहीं मान पाता, तोड़ता-फोड़ता हरियाली···सा सरसाता हुआ बहता ही चला जाता है, कम मूल्यवान नहीं है । लेकिन दिखना, मेरे मन में विथा होती है और मैं इस पत्र के लिए क्षमा चाहता हूं ।

मेरे आने के बाद तुम वहां कितनी देर रह पाई होगी । पन्ने दो

घन्टे, तीन घन्टे ! फिर तो तुम्हें जाना ही पड़ा होगा। आखिर तुम्हारा घर है और वहां दो प्यारे-प्यारे बच्चे हैं। पति हैं, लेकिन एक बार उन्हें छोड़ भी दो, क्योंकि वह अपने लिए और तरह की व्यस्तता ढूंढ सकते हैं। दिन में कारोबार है, शाम को क्लब है और 'लेकिन वह छोड़ो ! पर बच्चे तो तुम पर हैं ! तुम नहीं पहुंचोगी तो नौकर से लेकर खाना-पीना तो वे अपना तब भी कर लेंगे, देर हो जाएगी तो शायद बिस्तर पर पहुंच कर लेट भी जाएंगे। लेकिन क्या उन आंखों में नींद आयगी ? क्या वे अपनी मम्मी की राह ही देखते नहीं रहेंगे ? इसलिए आखिर तुम घर गई ही होगी। शायद हो कि खाने के वक्त से पहले पहुंच गई हो और बच्चों के प्यार में एकाध चीज अपने हाथ से भी बनाई हो। फिर उनके साथ होकर तुमने भी कुछ खाया-पीया हो और उन्हें कहानी लोरी सुनाई हो। जरूर तुमने यह किया होगा। क्योंकि तुम्हारा मन प्यार से भरा है और बच्चों की उस मन में बड़ी ममता है। लेकिन मैं सोचता हूं और मन भारी हो आता है। समझ ही नहीं पाता कि इन दोनों खुशियों को तुम एक में समाकर कैसे संभाल पाती होगी। क्या दोनों मिलकर तुम्हारे भीतर दुस्सह व्यथा का निर्माण न कर देती होंगी।

विमला, मैं विवाह का प्रहरी नहीं हूं। उस कर्तव्य में प्रेम का निन्दक भी नहीं बन सकता हूं ! लेकिन सच बताना, बच्चों के पिता रात को क्या जल्दी आ गए थे ? मैं जानता हूं कि वह जल्दी नहीं आते ! जानबूझ कर जल्दी नहीं आते ! सब सो जाते हैं, तभी वह घर में आते हैं। ऐसे कि जैसे मेहमान हों, जैसे चोर हों ! वह पति हैं, पिता हैं, उन्हें अधिकार है, सब स्वत्व उनका है। लेकिन नहीं आते हैं घर पर और दूर-दूर दुनिया में रहते हैं और वहीं दूर से घर में सामान और सुविधाएं जुटाते रहते हैं। इसलिए कि वह किसी सुख का भी उपभोग न कर सकें और तुम्हें किसी तरह का कष्ट न हो। तुम उस ओर से तनिक भी विघ्न न अनुभव करो ! मैं उन्हें जानता हूं, तुम

जानती हो ! और मैं बेबस सोचता हूं कि क्या ये सब तुम्हें बहुत भारी न हो आता होगा ? सचमुच मुझसे इस समय सहा नहीं जा रहा है और तुम्हारे प्रति सहानुभूति से मन उमड़ा आ रहा है । तुम अत्यन्त स्वाभिमानी हो । ऐसे पति का आश्रय तुम अगर छोड़ नहीं पाती हो तो मैं जानता हूं इसके लिए तुम्हारे मन में कितनी गहरी कृतज्ञता का भाव होगा । तुम शायद पतित्व नहीं दे पाती हो, फिर भी पतित्व उनका अपने ऊपर धारण किए हुए हो । सोचता हूं और मन अपने में रुकना नहीं चाहता, रोना चाहने लगता है ।

माना हो विमला तुम और बच्चों की ममता है । लेकिन इतना ही भर नाता तुम उस घर से अगर अनुभव करती हो कि जिसमें तुम अपना जीवन बिताती हो, जहां से अपने सब आश्रय लिए सब सुविधा प्राप्त करती हो, तो विम्मी, सोचो कि यह काफी है ? ये क्या उचित प्रतिदान है ? और यदि प्रतिदान की अपेक्षा दूसरी ओर से नहीं है तो क्या इसी कारण से और भी अनुचित नहीं हो जाता है ?

और क्या लिखूं ? लिखा नहीं जाता है ।

तुम्हारा,
स० द०

(२)

मान्यवर,

मैं आपके पत्र के लिए आभारी हूं ! लेकिन साफ कहिए आप क्या चाहते हैं । मैं क्या करूंगी ! मैंने आपको माना है । आप मुझे आदेश क्यों नहीं दे सकते हैं । देखिए, वही होगा !

मैं कुछ नहीं जानती ! दिन का भार बढ़ता है और मुझे याद आए बिना नहीं रहती कि काम बढ़े उनको छुट्टी हो जाएगी । आखिर काम तक पर आएगा । तब इसकी माफ़ का क्या होगा ? नौकर तो नौकर है, लेकिन फिर भी आत्म-सम्मान का क्या होगा ? पर मुझे देखिए और अपने

इधर-उधर जाएगी—तो तब क्या होगा ? और मुझसे रहा नहीं जाता है और मैं वहा पहुच जाती हू । क्योंकि यह अकेला रहता है और कमरा बहुत सूना है और उसका कोई नही है। चौके मे लगकर कुछ उसके लिए तैयार कर देती हू । लेकिन ज्यादातर वापस जल्दी आ जाती हू । क्योंकि घर मे फिर आकर बच्चो के लिए अपने हाथ से कुछ बनाना-बनूना होता है। कभी अवश्य ऐसा होता है कि उसकी आख मे जाते क्या देखती हू कि जा नही पाती हू । वह बडा मचलता है और बडा ढीठ है और मुझे रुक जाना पडता है। क्या यह सब मैं ठीक समझती हू या पसन्द करती हू ? या मुझे अच्छा लगता है ? लेकिन मैं सब भूल जाती हू और सचमुच फिर समय भी भूल जाता है और कभी तो रात काफी देर से पहुच पाती हू । घर तो है ही, और वह सबसे बडा कर्तव्य है। उस कर्तव्य मे त्रुटि मैं भरसक नहीं करती। लेकिन उसको निबाहते हुए अगर सुख की बूद एक राह मे मिल जाती हो। तो क्या सूखे कंठ मे उसका अपमान करती हुई मैं निकलती चली जाऊ और उसी में कृतार्थता मानू ? अगर ऐसा नही करती हू तो क्या मत्त आप भी मुझे दोष देंगे ? गिरस्ती एक जूवा है और कन्धे पर लिए-लिए आरों को सब ओर से बचाकर मैं अब तक उसे ढोए चली गई हू । आप जानते हैं कि एकाएक मेरी आग खुली तो कैसे खुली ? बताइए कि मैं फिर अपने को रोक सकती थी ? कर्तव्य का चक्कर अगर था तो उनके लिए भी न था, सिर्फ मेरे ही लिए था ? या तो दोनो के लिए था ! नहीं था तो मेरे लिए भी नहीं है ।

आप सच कहिए ! दर्शन नहीं, विचार नही, फैसला दीजिए ! दो टूक जो हो वह डालिए ! प्यार और व्याह की गोल बातें न कीजिए। तात्विक विवाद मे मे कुछ नही मिलता । मैं प्यार को नहीं जानना चाहती। विवाह को भी नहीं जानना चाहती ! ये शब्द हैं और मेरे पल्ले मैं स्वय हूं। उस निजता को लेकर मुझे द्विविधा मे न डालिए। मेरे मन मे काट-फास न पैदा कीजिए ! देखिए, आप ही कहते थे कि

पाप नहीं है ! फिर ऐसा न कीजिए कि पाप पैदा हो और मेरा मन मुझे ही डंक मारने लगे। आपकी चिट्ठी मुझे इसीलिए डराती है। मेरा दिन मजे मे निकल जाता है और उसकी शामे जो मैं इस घर मे नहीं, उस घर में बिताती हूं, मुझे अपने दिन से बिछुडी नहीं मालूम होती। फिर यह आप क्या लिख रहे हैं ? कहीं तो किसी को कुछ शिकायत नहीं है। मन तक में नहीं है।

मैंने आपको आग्रह-पूर्वक अपने उस घर मे क्या इसलिए बुलाया था, क्या आप भी उत्सुकता पूर्वक इसलिए आए थे, कि मेरे मन मे सशय का कीडा डाल दे ? नही, नहीं ! मैं यह सब नही लेना चाहती ! सहानुभूति नहीं लेना चाहती ! प्रसन्नता ही ठीक है। वही आपस मे ली-दी जाती है ! हमारी प्रसन्नता मे से अगर आप प्रसन्नता ही लेकर तुष्ट हों तो हमे याद रखिए। नहीं तो भूल जाइए !

आपकी,
चिम्मी

(३)

प्रिय विमल !

तुमने मुझे ठीक लिखा दी ! यही तो चाहता था कि उमर से अकल नहीं आती ! बडे नसीहत देने लग जाते हैं। यह नही सोचते कि यह दूसरे की जिन्दगी मे दखल देना हो सकता है !

लेकिन चिम्मी, मैं सामाजिकता और नैतिकता की बिल्कुल नहीं सोचता हू। न नीति समाज इतनी कच्ची चीजें हैं कि तुमसे या मुझसे टूटें। जो अमोघ है वह अमोघ है ! इसलिए उस चिन्ता मे मैं मर रहा हू, या जी रहा हू, यह तुम कभी न सोचना ! बात दूसरी है और वह यह कि मैं तुम्हारे विवाह मे शामिल हुआ था। विवाह को दीर्घ वर्ष हो गए और हम सब तो चाहते हैं कि हम अपनी उमर भूले रहें। लेकिन दुनिया की उमर साथ चलती है ! तुम शान्ति से उस बात न होगी।

तुम्हारा घर है, परिवार है। भावना मे अवश्य सब एकाकार हो जाता है, लेकिन भावना से यथार्थता कटती नही है। यथार्थता के तल पर भेद भेद ही है। और ये भेद जब भावना ढलती है इतने उभरते और चुभते हैं कि उस कष्ट को बचाना ही चाहिए। मर्यादा ये समाज की है इसलिए नही, बल्कि इसलिए कि वे यथार्थताए हैं उनका ध्यान रखना पड़ता है। आज भूलने से जो कल उन्हे फिर याद करना पड़ जाएगा तो वह याद सहज न रह जाएगी, तीखी बन आएगी। इसलिये यदि कुछ कहता हू तो कहता हू। बुरा न मानना!

उसके जीवन की सोचती हो कभी कि जो तुम्हे प्यार करता है और जिसे तुम प्यार करती हो? अभी नया खिलता जीवन है उसका। तीस वर्ष की उमर होगी। कितना सुन्दर नौजवान है। देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। तुम्हारी आख उस रूप पर मोहित हुई, तो वे आखें कौन हैं जो नही होती होगी? और उस युवक के लिए मेरा मन सराहना से भर जाता है। जब देखता हू कि उसने तुमको चुना, और जबकि इतना ससार उसके सामने खुला पड़ा है। तब भी तुम्ही पर टिका हुआ है! अब सोचो विमल, उसकी तरफ से सोचो! उसको क्या अपना घोसला या बसेरा नही चाहिए? शाम तो ठीक है, लेकिन रात को अगर उसे कुछ हो जाए, क्या इस अदेशे मे तुम अपने बच्चों के पास सोने से इन्कार कर दोगी? सुनो विमल, तुम्हारी सुन्दरता कब तक थमेगी? उमर का अन्तर कब तक दबेगा? इन यथार्थताओ को कभी न कभी पहचानना ही होगा। भूले रहने मे जब तक चलता है, तभी तक चलता है। अन्त तक नही चलेगा! नही चलेगा, नहीं चलेगा!

लेकिन तुम अपने लिए सोचो ही क्यो? मान लेता हू कि तुमने वह कीमिया सिद्ध कर ली है कि यौवन तुमसे कभी उतरेगा ही नहीं! उमग सदा ही बनी रहेगी। जादू उड़ेगा नही, तुम्हारी आखो मे बसा ही रहेगा! लेकिन सोचो उसकी तरफ से। क्या उसे कभी इसकी भी जरूरत न होगी जिस पर अपने नाम दबेस रखे और बुढ़ापे मे जिस

पर सुहाग डाल सके ! क्या उसे कभी पत्नी की आवश्यकता न होगी जो प्रेयसी न हो, दासी भी हो ! शासिका न हो, शासिता भी हो ! क्या तुम उसे वफ़ा दे सकती हो ? पतित्व दे सकती हो ? कभी बात कर देखो, पूछ देखो ! चालीस वर्ष से ऊपर की पत्नी को तीस वर्ष की अवस्था मे वह स्वीकार करेगा ?

मैं स्वप्न को बहुत मानता हूं ! माया को भी मानता हूं ! मानता हूं यह ब्रह्म का ही मनोरम रूप है ! वही व्यक्त है। मूर्त रूप में वही सत्य भी है। लेकिन माया टूटेगी और फटेगी तो क्या होगा ? भ्रम भ्रम लग आयेगा तो क्या होगा ?

क्या उस रोज की याद दिलाऊं ? तुम आई थीं और रो रही थीं। मैं किसी तरह तुम्हें सान्त्वना नहीं पहुंचा सका था। आखिर तुम्हारा कष्ट यही तो था कि वह तुमसे तुमको नहीं, जाने किसको चाहता है ? तुम पर प्रगट हो आया था कि उसकी खोज जिसके लिए है, कभी वह पूरा उसे तुमसे कितनी कठिन हो जाती है और उसकी आग तुमसे इधर-उधर दौड़ने लगती है। बिमल, ऐसा होगा और जैसे समय बीतेगा बार-बार होगा ! बहुत बार होगा और हर बार तुमको रोना पड़ेगा ! मैं डरता हूं वे चीज कहीं इस हद तक न पहुंचे कि जहां प्यार है, वहां नफरत हो जाए ! मुझसे यह डर दूर नहीं होता है। मैं हरगिज नहीं चाहता कि वह डर तुममें पैदा हो, मगर जानता हूं कि वह होनहार है और अन्त तक उससे बचाया नहीं जा सकता !

प्यार की छोड़ो, या सुख की बूंद भी छोड़ो, वह अभी नहीं कहता हूं ! लेकिन प्यार जिस जगह से है और सुख जिस जगह से लगता है, वह जगह भी मिट जाएगी। तब क्या होगा ? कभी यह सोचा है ? क्या तुम समझ पाती हो कि आशा हो सकती है कि समय पर सब ठीक हो जाएगा और आगे का नरक बन जाएगा ?

सुन्दराम,

[illegible]

(४)

मान्यवर !

पत्र मिला ! क्या ठीक हो जाएगा ? मैं नहीं मानती कि मेरे साथ कुछ भी बेठीक है। आप अपनी मेहरबानी को अपने पास रखिए। अपना ज्ञान, अपना उपदेश भी पास रखिए ! आपको जानना है, मुझे जीना है। आप जानने को ऊपर रख सकते हैं। मैं जीने से अपने लिए फुर्सत नहीं निकालना चाहती हूं।

आप अब मेरे बारे में कुछ कष्ट न कीजिए ! कहीं पतिदेव तो आपको इधर नही मिलते रहे हैं ? ऐसा ही लगता है। अब मिलें तो कहिए कि करनी भोगनी भी होती है।

आपकी,
विमला

(५)

विमल !

प्रिय नही लिखता हूं ! शायद तुम चाहोगी नही। पंडित जी मिले हैं, कई बार मिले हैं ! पर प्रशंसा के अतिरिक्त तुम्हारे सम्बन्ध में एक भी अन्यथा शब्द उनके मुह से नहीं निकलता ! वह अवसर भी तब आता है, जब दूसरे हठात् उसे बना ही डालते हैं। वह प्रायश्चित पूर्वक नहीं बल्कि उदारतापूर्वक तुम्हें लेते हैं, यह मैं तुम्हें कैसे बताऊं ?

सुनो ! मालूम हुआ है कि मकान तुम्हारे अपने पैसे का है। यानी तुम समझ सकती हो कि वह तुम्हारे पति की कमाई का नहीं है। मुझे दुःख होगा अगर तुम्हारे व्यवहार में यह मान भी कारण बना होगा। मुझे गलत मत समझना ! जीने वालों में सफलता से जीने का प्रयास करने वालों में मैंने तुम्हें देखना चाहा है। इसीलिए तुम्हारे लिए सदा मन में संभ्रम का भाव रखा है। किसी नीति-नियम के नाते वह भाव वहां से हटने वाला नही है। लेकिन यह अब भी आशा है कि तुम

निराशा से बचोगी, निराशा का सामान पैदा करने से भी बचोगी। भगवान तुम्हें सुखी रखे।

तुम्हारा,
रा० द०

(६)

श्री रा०…द०

धन्यवाद! बस!

विमल

अगस्त '६२

जीना-मरना

पति ने कहा, "आज मंगलवार है। चौथा रोज हो गया बुधिया को अस्पताल गये! हम अब तक जा नहीं सके हैं। जाने क्या हाल होगा? आज जरूर चलना है, चार बजे।"

पत्नी बोली, "आज? आज तो साढ़े तीन बजे शान्तिलाल जी के यहां सगाई है। खुद आये थे, बहुत बहुत कह गये हैं। नहीं जायेंगे तो बुरा मानेंगे। और हरदम पड़ोस का सवाल है।"

"लेकिन ...।"

"परसों तो रग्घो गया ही था। कहता था पहले से तबियत सम्भली बताती थी। कल चले जायेंगे।"

"बिचारी तीन दिन से राह देखती होगी। उसका कौन बैठा है। और मैं समझता हूं, यह उसका अन्त समय है।"

"अब कल चलेंगे। या तुम ऐसा करो कि सगाई निबटा कर पांच बजे अकेले चले जाओ। मुझे तो छुट्टी मिलेगी नहीं।"

"पांच बजे से तो काका के जन्मदिन का उत्सव है। टाल भी जाता, लेकिन उन्होंने दाब दिया है कि अध्यक्षता मुझे करनी है। ऐसा करो कि चार पर चलें, जरा देख कर साढ़े चार तक आ जाएं।"

"नहीं, नहीं! शान्तिलाल जी तो बल्कि हमें साढ़े तीन पर ही बुला रहे थे। अब तो कल ही रखो।"

पति बेचारे के लिए उपाय न रह गया। बुधिया अस्पताल में लिए ले जाई जा रही थी, तब से उसके चेहरे का उन्हें ध्यान आया। वह जाना नहीं चाहती थी। उनकी पत्नी से हाथ जोड़कर विनय कर रही थी कि दो-चार दिन यहीं पड़ी रहने दो। मरना तो है ही, अस्प-

ताले जाकर ख्वारी कराने से क्या फायदा ! लीलाधर के मन मे हुआ था कि एम्बुलेंस की जो गाडी मंगवाई है, उसे वापिस कर दिया जाय। लेकिन दिल्ली शहर मे जगह की बडी तंगी है। सेवादार भी नही मिलते हैं। मुखिया कोई नाते रिश्ते मे तो है नही। ठीक है कि अभागिन है, कोई उसे पूछने वाला नही है। लेकिन एक कमरा उसी के निमित्त कैसे और कब तक रखा जा सकता है ? सच है कि नाहक का बोझ आ गया। डेढ़ एक महीने से पडी थी वहा और भुगत रही थी। जैसे-तैसे कारड पर दो सतर लिखकर मेहतर के हाथ डलवाया था। कार्ड पढकर वे देखने चले गये, बेहाल देखकर तय किया कि अस्पताल भेज देना चाहिए। फोन किया, जोर लगाया, और आखिर दाखिला मिल गया।

लेकिन तीसरे रोज नीचे से पडौसिन ने आकर बताया कि बाहर ठेले पर एक बुढिया पडी है, आपको पूछ रही है।

पत्नी ने बाहर जाकर देखा, मुखिया थी। अस्पताल के आदमी घर के दरवाजे तक लाकर ठेला वही छोड गये थे। भुनभुनाती पत्नी वापस आई कि यह क्या झमेला खडा कर लिया है ? मैं कहा रखू उसे, अपने सिर पर ? बस, मेरे कलेजे पर आये दिन नई-नई बेगार ढोनने रहते हैं!

पत्नी ने कहा यह सब, लेकिन कहने के साथ ही वह बाहर गई और [illegible] कर दिया।

"खैर आप एस० एम० को फोन तो कर दीजिये ।"

"वह तो मैं अभी कर रहा हूं ।"

"तो देखिए, मैं खुद आ रहा हूं । फोन के अलावा मैं आपसे एक पुर्जा भी ले लूंगा । असल में केस काफी खराब है, नहीं—तो तकलीफ न देता ।"

डिप्टी साहब के यहां पहुंच कर अपने सामने एस० एम० को जो फोन कराया तो मालूम हुआ कि किस्सा ही दूसरा है । मरीज को डिस्चार्ज कर दिया गया है । मर्ज खास नहीं है । दवा बता दी गई है, घर पर रहकर इस्तेमाल करती रहे, ठीक हो जायेगी ।

लीलाधर अजब चक्कर में पड़े । हालत उन्हें जीने-मरने की दीखती थी । इधर अस्पताल से यह खबर आ रही थी !

डिप्टी साहब ने मजबूरी जतलाई । लीलाधर ने उन्हीं से पूछा कि बताइये, क्या किया जाय ? बोले, "डाक्टर मेहरा, हेल्थ इंचार्ज हैं । वह चाहें तो कर सकते हैं ।"

"तो जरा उन्हीं से पूछ कर देख लीजिये ।"

डिप्टी साहब के पी० ए० ने मालूम किया तो मेहरा चीफ कमिश्नर के यहां गये हुए थे । कब तक आयेंगे, कुछ ठीक कहा नहीं जा सकता । डिप्टी साहब ने अपनी तरफ से और मालूम करके बताया कि मेहरा दफ्तर एक बार आयेंगे जरूर ! चार नहीं तो साढ़े चार तक सही । जरूरी समझते हों तो आप इंतजार कर सकते हैं । क्या उनके आफिस में कहला दिया जाय कि आते ही यहां खबर दी जाय ? हालत संगीन आप समझते हों तो जरा इन्तजार कर लेना ही मुनासिब होगा ।

लीलाधर ने कहा, "ठीक है, जरा इंतजार ही कर लेता हूं । बाहर टैक्सी खड़ी है, कोई बात नहीं, जरा दाम ही चढ़ जायेगा ।"

सवा चार हो गया । साढ़े चार के करीब होने लगा । इंतजार उसे अखर रहा था । डिप्टी साहब अपने सामने की फाइलों पर झुक गये थे और सामने सूना बैठा कुर्सी पर [illegible] [illegible] [illegible]

विचार करता रह गया था। बाहर आधी फर्लांग दूर खड़ी टैक्सी के चलते हुए मीटर का टिक् टिक् उसे सुनाई दे रहा था। आखिर साढ़े चार की घड़ी की सुई पार कर गई तो उसने कहा, "जरा पूछिएगा, शायद है कि डाक्टर मेहरा आ ही गये हों।"

"जी, यह तो कह दिया गया है कि आते ही यहां खबर दें। फोन आ जायेगा, आप फिकर न कीजिये।"

कहकर डिप्टी कागज पर झुक गये। उसकी समझ में न आया कि फिक्र न की जाय तो कैसे न की जाय? श्रीमती जी को बहादुरी के साथ कह आया हूं कि अभी अस्पताल का इन्तजाम हुआ जा रहा है। यहां दिन ढल रहा है। पांच बजे दफ्तर बन्द हो जाते हैं। फिर आज खत्म है, और कल को ताकने का नसीब ही बन जाता है। मजबूरन उठकर उसने पी० ए० को आमादा किया कि वह जरा फोन करके मालूम तो करे। मालूम किया गया कि हां डाक्टर मेहरा आध घण्टे से कमरे में आये बैठे हैं।

डिप्टी साहब ने उस नम्बर पर डाक्टर मेहरा से बात की कि आप सौदागर जी को जानते ही होंगे! अस्पताल में एक संगीन केस दाखिल किया चाहते हैं। आपकी तरफ आ रहे हैं, जो मुमकिन हो कर दीजियेगा।

डाक्टर मेहरा हँसते हुए मालूम हुए। बड़े तपाक से मिले और कहा कि बताया जाय, क्या खिदमत कर सकते हैं।

हाल बताया गया।

बाद आइयेगा, तो दाखिले का इंतजाम मैं करा दूंगा।"

"लेकिन· · ·"

लेकिन कितना ही किया जाय, बात तो उधर से कट कर खत्म थी।

इस तरह बुढ़िया पत्नी के हाथों आ पड़ी। उसने पति को यह सुनाया, वह सुनाया कि क्या कहे। लेकिन उसके अचरज की सीमा न रही जब पांच रोज तक बुढ़िया घर पर रही और पत्नी ने उसकी इतनी सेवा की, इतनी सेवा की कि कोई ट्रेन्ड नर्स भी नहीं कर सकती थी। अजब रोग था बुढ़िया का। खा कुछ सकती न थी, पेट अफरा रहता था और जी अघाया हुआ। जीभ जरूर कभी-कभी मचलती थी। एक बार नौकरानी से दही मोठ की चाट ही उसने मंगा ली। कभी अचार मांगती, कभी मुरब्बा। लेकिन जी ही ललचता था, जीभ पर इन चीजों को रखा नहीं कि अन्दर से पेट जैसे इन्कार कर देता था। खाने का यह हाल था, लेकिन दस्तों का हाल इससे उलटा था। उठ-बैठ तो सकती ही नहीं थी, हिलना-डुलना भी कठिन होता था। लेकिन जब देखो बेड-पैन भरा ही मिलता था। पत्नी खुद साफ करती और अक्सर जो कपड़े गन्दे हो जाते, उन्हें खुद साबुन से धोती। बैठकर हर सवेरे बुढ़िया के पुराने कपड़े उतारना और नये पहनाना, सफाई का पूरा ध्यान रखना। दस्तों के मारे बू रहती थी, लेकिन अगर और धूप बत्तियों का उन्होंने ऐसा इन्तजाम किया था कि कमरे में बू का प्रश्न ही न था। बुढ़िया अब मौत के निकट जा रही थी। लेकिन पत्नी की सेवा पर मानो अन्त समय उसमें जीने की चाह लौट आई थी। मालूम पड़ता था कि वह मरना ही चाहती है। जीने में रस या सार नहीं रह गया है। कोई अपना नहीं है, कहीं और ठौर नहीं है। किसी के मन में उसकी चाह नहीं है, प्यार नहीं है।

ने इन्तजाम किया था और एम्बुलेंस गाडी दरवाजे पर आ लगी थी। पत्नी का मन भी गुनिया को भेजते कट रहा था। पर चिकित्सा की व्यवस्था तो यहाँ उस तरह की हो नहीं सकती थी, न तिमारदारी का वैसा इन्तजाम था। डाक्टरों की हर समय की देख-रेख चाहिए थी। इसलिये अस्पताल भेजना भी जरूरी था। दूसरे सच यह है कि गिरस्ती का सब क्रम भंग हो गया था और पत्नी पर काम का भार इतना हो गया था कि कुछ दिन में वह खुद टूट जा सकती थी। इससे चारा दूसरा न था। पर अस्पताल भी यह चारा प्रिय किसी को न हो रही थी।

जाने के बाद पत्नी ने कई बार याद किया और नीलाधर को भी ख्याल आता रहा। पर जनरल फीमेल-वार्ड में मिलाई के लिए सिर्फ एक घंटा रखा है और चार से पांच तक का यह वक्त सम्भवतः जाने किन-किन दूसरे कामों और तकाजों में भर रहता था।

इसलिए शनि गया, रवि गया और सोम भी निकल गया। बीच में सिर्फ दामों को भेजकर खबर ली जा सकी। नीलाधर के मन में तय था कि मंगल नहीं निकल सकेगा। पर पड़ोस के लाला शान्ति-लाल जी की लड़की की सगाई आ गई। ऐसी सगाई का अवसर मामूली नहीं होता। फिर शान्तिलाल जी ने मन खोलकर काम किया था। पड़ोसी हैं, पैसे वाले हैं और सबके काम भी आते हैं।

सोचा गया कि चलो, न सही मंगल, बुध ही सही। और नीलाधर पत्नी के साथ सगाई में शामिल हो गये।

सगाई बड़ी हो गई। एक [illegible] भर सभी इन्तजामों में सजी और [illegible] छाई थी। सहन में बड़ा भारी मंडप खींच लिया था और किसी फर्श पर दोनों तरफ कुर्सियाँ सजाई गई थीं। दो हजार कुर्सियों से कम [illegible] एक भी कुर्सी न थी जिस पर कोई न हो। [illegible] पर्दों का भरपूर इन्तजाम किया गया था उसकी [illegible] काबिल तारीफ थी, और दस-दस कदम दोनों तरफ रोशनी की थी। बीच में सात

बनात थी कि जिन पर अभ्यागतों के चरण पड़ सकें। पत्नी अन्दर चली गई और मैं उनमें से एक कुर्सी पर बैठ गया।

इन्तजाम की तारीफ करनी होगी। सॉफ्ट-ड्रिंक् के नमूनों की भरमार थी और यहां वहां ट्रे पर तरह-तरह के स्नैक्स् और ड्रिंक्स लिये चपरास बांधे बैरे घूम रहे थे।

मैं अन्दर नहीं गया। लेकिन उत्साह से जो अन्दर जाकर लोग लौटकर बखान कर रहे थे, उससे मालूम हुआ कि चालीस हजार का तो दहेज जरूर होगा। ऊपर का खर्च अलग। रोशनियां इस कदर कि शहर जगमगा उठे। सचमुच दावत का इन्तजाम भी जबरदस्त था। क्यों न हो, शान्तिलाल जी, दरियादिल आदमी हैं। और देखिए न कि सामने रिश्ता किस कदर बालातर मिला है, शहर के नामी जौहरी का लड़का है और उन जौहरियों के यहां की तैयारी तो और भी इफरात है।

शान्तिलाल जी की उस सगाई में पधारे हुए शहर के संभ्रान्त लोगों के उत्साह और आनन्द ने नीलाधर को उकसाया। उन्हें भी सब बहुत खूब मालूम हुआ। कभी कभी घड़ी देख लेते थे। आखिर पौने पांच बजे उठकर उन्होंने शान्तिलाल जी को बधाई दी और जाने के लिए अनुमति मांगी। शान्तिलाल जी आभार से गदगद थे। लेकिन नीलाधर जी को जाने कैसे दे सकते थे! मुंह झूठा किये बिना जाना न हो पायेगा। शान्तिलाल जी नीलाधर को साथ में लेकर, दूसरे कमरे में ले गये जहां उपाहार की व्यवस्था थी। शान्तिलाल जी ने आवाज देकर नमकीन की, मिठाई की, चाट की, मेवा की नाना तश्तरियां मंगवाईं और स्वयं अपने हाथ से प्रस्तुत कीं। उन्होंने अनन्तर मेज पर विविध चीज सजा दिये। सचमुच आतिथ्य का यह आग्रह और यह आह्लाद उन्हें प्रसन्न कर गया। उदारमनस्कता का ऐसा दृश्य कम-कम दिखता है।

नीलाधर मानो इस सम्पन्नता की सफलता से भरे से हो रहे थे। सम्पन्न दान में भी मानो ऊपर हो गया था। तभी सन्तोषपूर्वक वे और वे एक वस्तु ले आकर कहा कि मानो नहीं है, बात उससे इसकार

हो रहा है।

जन्मोत्सव के जश्न की शोभा निराली थी। बीच में दीपस्तम्भ था। और उसमें उन महाप्राण आयु के वर्षों की गिनती के अनुसार चार स्तरों पर दीप सजाये गये थे। सात से तीस वर्ष तक कन्याओं की तीन अलग-अलग नृत्य टोलियां थीं। इसी अवसर के लिये बनाई गई कविता के आधार पर शिशुओं की नृत्य रचना की गई थी। बड़ा सुन्दर दीखता था, उन बालिकाओं का परिधान। अन्त में गरबा नृत्य हुआ था। उसकी मनोहरता से हम सभी विभोर हो आये थे। लीलाधर मन्त्रमुग्ध से इस शोभा को निहारते रहे। लोगों में बड़ा उत्साह था और दृश्य अत्यन्त भव्य था।

लीलाधर मध्य में बैठे थे और समक्ष नृत्य-वाद्य का एक कार्यक्रम चल रहा था। इतने में बराबर से डा० मेहरा का आगमन हुआ। लीला-धर को प्रिय हुआ कि डाक्टर स्वयं उनकी तरफ आ रहे हैं। उन्होंने पूछा कि उस औरत का क्या हाल है? लीलाधर ने कहा कि संभल ही रहा होगा। लड़का गया था, आकर उसने बताया था कि तबियत में सुधार हो चला है।

मेहरा ने कहा, "बड़ी खुशी की बात है। मैंने एम० एल० से मालूम किया था कि कोई विशेष नहीं है, डिस्चार्ज पहले इसीलिए किया गया था। और अब फिर दो-तीन रोज में डिस्चार्ज मिल सकेगा, ऐसा उनका ख्याल था।"

लीलाधर ने कहा कि वह तो मैंने [illegible] मान रखा था।

"जी, हाँ। मैंने [illegible] मालूम कर ली थी सही प्रगति हुई है। दो रोज में ज्यादा करीब ठीक होकर आ जायेगा।"

लीलाधर ने मेहरा का आभार माना और भीतर से वह प्रसन्न हो उठे। शायद यह सबसे दूसरा कार्यक्रम था। एक बज चुका था। कार्यक्रम काफी लम्बा था। [illegible] लगता था कि लीलाधर को उसमें आनन्द आता है। क्या मालूम था कि जन्मोत्सव इतना महंगा पड़ेगा!

उसने इसी से ऐतिहासिक साढ़े छः का समय दे दिया था। साढ़े छः होने जा रहा था। लेकिन बिना भाषण में दो शब्द कहे उसे छुटकारा न था। सामने नृत्य का कार्यक्रम चल रहा था। इतने में देखा कि एक सज्जन आये हैं और पास आकर उन्होंने उसके हाथ एक पुर्जा थमा दिया है। लिखा है कि ग्रन्थमोचन के समारोह की ओर से आ रहा हूं। गाड़ी लाया हूं, फौरन चलना है।

बाद आध घंटा और लगा। अनिवार्य कुछ आडम्बर बीच में हुए। लीडरपद को बोलना हुआ और तब छुट्टी लेकर ग्रन्थमोचन के कार्यक्रम के लिए रवाना हुआ जा सका।

स्थान बहुत ही भव्य था और बाहर खड़ी कारों की गिनती न थी। एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था और लेखक को बधाई देने नगर के साहित्य-वर्ग के बड़े से बड़े लोग उपस्थित हुए थे। कलकत्ता महानगर था। साहित्य पर सम्पत्ति टिकती है और संस्कृति भी [illegible] होती है। लक्ष्मी इधर और भारती उधर नहीं था। दार्शनिक था और [illegible] का इसमें गहरा समन्वय-दिग्दर्शन था। स्थान नगर से बाहर कई मील की दूरी पर होगा और इसलिए गिने-चुने लोग ही उपस्थित थे। इसी [illegible] चर्चा [illegible] हुई और रचना निज नैमित्तिक और दैनंदिन से मुक्त होकर व्यापक विराट् तक उठ आई। कला ही भव्यता भी आयोजन था। और ग्रन्थ में लेखक ने जो बताया गहरा मार्मिक और गूढ़ थे। लेखक विश्वविद्यालय में अपने विभाग के अध्यक्ष ही नहीं थे, बल्कि अपनी विद्या के एक विख्यात, बहुश्रुत मनीषी माने जाते थे। [illegible] ने अपनी भावाञ्जलि और श्रद्धाञ्जलि [illegible] की [illegible] की ओर [illegible] की स्तुति में कभी लगातार अपनी ओर से कुछ शब्द कहे।

बाद खान-पान का कार्यक्रम था। उस व्यवस्था की जितनी तारीफ की जाय कम है। अत्यन्त रुचिकर मेनू था, वातावरण परिष्कृत, स्थान सुन्दर और प्रबन्ध यथानुरूप। कोई साढ़े दस बजे वहां से छुट्टी हुई। कुछ देर लोगों ने मिलने जुलने में लगाई और [illegible] घर पर आना

हुआ ।

पर पर सोने की तैयारी ही कर रहे थे कि दरवाजे पर आहट हुई। बुरा मालूम हुआ कि यह किसी के लिए क्या समय है ! पर दरवाजे पर आने के साथ नीलाधर के हाथ में तार दिया गया। उन्होंने देखकर कहा कि यह नाम हमारा नहीं है, किसी दूसरे का तार है।

"नीलाधर जी का यही घर नहीं है ।"

"लेकिन तार पर मेरा नाम नहीं है ।"

"जी, अस्पताली तार है और आपके यहां देने को कहा है ।"

तार लिया और खोला । लिखा था—कुसुमदेवी मर गई है । शरीर उठा ले जाइए ।

ग्यारह बज गया है । रात अंधेरी है । तार हाथ में है । मुनिया मर गई है । शरीर को उठा मंगाना है ।

नीलाधर तार को हाथ में लिये रह गये ।

रात अंधेरी है पर पड़ोस में बिजली की [illegible] रोशनियां जगमगा रही हैं, कारण [illegible] जी के यहां दिन से मनाई गई है, नाच गाना-बजाना होगा । [illegible] याद आती है ।

नीलाधर अन्दर आये । चुपचाप तार पत्नी को दिया ।

पत्नी ने सिसक कर कहा, "क्या होगा अब ?"

"सब क्या होगा है !"

"[illegible] आदमी में [illegible] कि [illegible] हो तो [illegible] है । पैसा हमसे ले लें । [illegible] हम लोग [illegible] का [illegible] करते फिरेंगे ।"

"मुनिया और गोद में [illegible] रही होगी, कोई आयेगा, कोई जायेगा ! जाने कैसे पार निभेगी ।"

"यही तो सोचते हो कि अब कुछ हो नहीं सकता । [illegible] कि क्या होगा ? [illegible] नहीं [illegible] ?"

"कोई न [illegible] को तो [illegible] आप ही [illegible] ?"

"हां [illegible] न होगा । [illegible] में [illegible]

चक्कर आ जाते हैं।"

लीलाधर चढ़े ही थे। सोचा कि हाँ, सब चक्कर ही है। सगाई-ब्याह का चक्कर, जन्मदिन के उछाह का चक्कर, तदनन्तर के चलन-प्रचलन और विज्ञापन का चक्कर। और सबसे अन्त में यह मौत का चक्कर! लेकिन मौत पर भी चक्कर समाप्त नहीं है क्योंकि मरने से मरने वाले की छुट्टी हो जाती हो, जीने वालों की छुट्टी कहाँ है?

"क्या सोच रहे हो? कह दो अस्पताल वालों को कि हम कुछ नहीं जानते।"

लीलाधर ने सोचा कि ठीक पत्नी की बात ही है। जो मुर्दा हो गया है, उसको कोई क्यों जानेगा, या उसका कोई क्या जानेगा?

"खड़े हो, फोन से क्यों नहीं कह देते हो अस्पताल वालों को।... या रहो, चुप मार जाओ। अपने आप करते फिरेंगे।"

पत्नी को लीलाधर ने देखा! यही थी जो अपनी और अन्य सुखिया के देह की अलग अलग हर तरह की चिन्तायें करती रही थी। देह वह मैली थी, गात सब तरह से सिकुड़ आई थी। वह देह अपने को तनिक न सँभाल सकती थी। उसमें मानो हिलने-डुलने की भी शक्ति न थी। मुर्दा देह से वह अधिक जीर्ण और बेजान थी। पर उसी को धोकना, कपड़े पहनाना, उसके शृंगार-पटार और अन्य साज-सज्जा की चाह करने में इस पत्नी को तनिक आलस्य न आता था। शायद सुखिया जीकर फिर आ जाती और इनके हाथों पर जान सी सुन्दर सी हो तब आनन्द हो जाता। लेकिन उन्होंने तारीफ़ से कहा, "मार का जवाब देना चाहती हो तो क्यों नहीं अब देते हो अभी फोन करके?"

लीलाधर पत्नी को देखता रहा।

पत्नी ने कहा, "और तुम कुछ न करोगे तो क्या होगा?"

"दिन-चार रोज़ बाद शायद आप ही सड़ेंगे, फिर निकाले जायँगे।"

"तो छोड़ो, जाने दो। चलो सो रहो, सवेरे देखा जायगा।"

इतना कह पत्नी ने पलंग से रजाई को खींच लगाया और सोने का

निमन्त्रण दिया ।

लीलाधर खड़ा ही रहा । जीवन भी कैसा विवश है ! कैसा निर्मम और नितांत ! मौत पग-पग पर उसके सामने क्यों न आती है, वह अपनी प्रवृत्ति जैसे एक क्षण के लिए भी रुक नहीं सकता । उल्लास-विलास की प्रवृत्ति, करने-धरने की, बढ़ने-उठने की प्रवृत्ति ।

लीलाधर सीधे टेलीफोन की तरफ बढ़े और डाइरेक्टरी में देखकर एस० एम० के घर का नम्बर मिलाया । मालूम हुआ, वह घर पर हैं नहीं । कब आयेंगे ! मालूम नहीं ।

एक क्षण सोचा और डी० एम० एम० के घर का नम्बर डायल किया । उनके स्वर में उकताहट और झुंझलाहट थी ।

लीलाधर ने कहा कि तार अभी मिला है । मैं जानना चाहता हूं कि मौत हुई तो फोन पर खबर मुझको क्यों नहीं दी गई ?

"यह मामला नहीं है । आप चाहते क्या हैं ?"

"लाश इस वक्त कहां होगी और उसका क्या किया जायेगा ?"

"अभी शायद वार्ड में हो । सवेरे मुर्दाघर पहुंचा दी जायेगी ।"

"[illegible] का क्या होगा ?"

डी० एम० एम० ने झुंझलाकर कहा, "ले जाइये, और जो चाहे कीजिए । मेरे पास वक्त नहीं है । सवेरे अस्पताल में बात कीजिएगा ।"

"आप पब्लिक सर्वेन्ट हैं, यह मौत का मामला है । मरीज कोई मेरा रिश्तेदार न था । मैं भी सोशलिस्ट के तौर पर दिलचस्पी रखता हूं । आप का यह तौर भी फर्ज है । ..."

और उधर से फोन कट चुका था ।

पत्नी ने पूछा, "क्या हुआ ?"

लीलाधर ने कोई जवाब न दिया । चुपचुप वह पलंग पर जा गये । उसके [illegible] गुस्सा था । वह गुस्सा किसी पर नहीं था । सिर्फ इस पर था कि [illegible] और है । मानो यह जिन्दगी के [illegible] है । उसको [illegible]

जिया जाय ?

सुखिया मरी, यह समझ मे आता है। पर वह जीई क्यो ? यह समझ मे नही आता। इधर पैंतीस वरस की उसकी जिन्दगी का फैलाव सामने आता है—छ वरस की उमर मे विधवा हो गई। लीलाधर की मा की सस्था मे सोलह-अठारह वर्ष की उमर मे काम करने आ गई। काम के साथ दो-चार अक्षर भी सीख गई। पहले वारह रुपये और रोटी-कपडा पाती थी। अक्षर सीखकर बीस रुपये खुश्क पाने लगी। वीस मे अपने ऊपर पाच खर्चती, पन्द्रह इधर-उधर, पास-पडोस के वाल-वच्चो पर निछावर कर देती। फिर कही दूर चली गई और मालूम हुआ कि किसी पाठशाला मे वही वीस रुपये पाती है और चाकरी करती है। उसने रूप नही पाया था और शायद जीवन भर पुरुष भी नही पाया था। मा की वजह से लीलाधर को वह जानती थी और कही हो और चाहे लगडाते-लगाडते उसे आना पडे, राखी का दिन वह नही भूलती थी। राखी पर महीने की तनख्वाह से ऊपर का सामान वह ले आती होगी और वापिस एक पैसा स्वीकार नही करती थी। वह रहती चली गई, एकाकी और नीरस, और वीमारिया उसे घेरती चली गई। कान वेकार हुए, टागें वेकार होने लगी और फिर पेट वेकार हो गया।

दो वरस से राखी पर वह नही आई थी। कहा किस हाल रही, पता नही। कोई खैर-खवर नही मिली। मिला तो आखिर मे वह कार्ड मिला जिस पर जाने किस ताकत से उसने टेढी-मेढी वे सतरें लिखी हो।

यह जीना क्यो हुआ ? क्यो हुआ ? लीलाधर समझ नही पाते। नही समझ पाते उस विधान को और विधाता को जो यह सब वेकार कर जाता है। इस सुखिया को आखिर क्यो जीने दिया गया—पचपन साठ वरस की उमर तक। क्या उस विधाता का या इस दुनिया का विगड़ता था अगर उसे पहले ही उठा लिया जाता ! और क्या था कि उसे जनमाया गया।

लीलाधर को गुस्सा यही था। उस पर था जिस पर गुस्सा चल नहीं सकता। जिस पर किसी का कुछ वश नहीं चल सकता। जो है और नहीं होता तो अच्छा था।

"सोते क्यों नहीं हो ? आओ, सो जाओ।"

और पत्नी का हाथ बढ़कर आया कि सोचो नहीं, लेट जाओ। वह सदा [illegible] अगर जिन्दगी का था तो इस वक्त वह भी लीलाधर को उतना ही बेकार मालूम हुआ। जैसे वह सिर्फ दमन हो और शेष उसमें कुछ अब न हो व्यर्थ हो।

"सोच में क्यों पड़ते हो ? मुनिया तो अब आने से रही। और फिर शरीर जैसे हमने मरघट में जाकर जलाया, वैसे अस्पताल वालों ने राख-खाक किया। इसमें चिन्ता की क्या बात है ?"

लीलाधर ने अनुभव किया कि बेशक इसमें चिन्ता की बात नहीं है। स्त्री की बुद्धि की उनके मन में सराहना हुई कि वह कितनी व्यावहारिक होती है। काम के समय वह तत्पर थी, वही अब बेकार चिन्ता मोल लेने के लिए तैयार नहीं थी। शरीर ही जो सब है। मरघटवालों को [illegible] जलाया गया या कि [illegible] बिजली में [illegible] दिया गया या कीड़े-कौओं को खिला डाला गया—फर्क इसमें क्या होता है ?

भगवान ! और सब होते में पहले शरीर को लेकर ऐसे जिया [illegible] ऐसे लिया गया तो इसी से कौन बड़ा फर्क पड़ जाता है !

[illegible] नाता और तिरस्कार लीलाधर के मन को घेर गया। जैसे जिन्दगी कोई सच नहीं, एक बड़ा भारी झूठ और झमेला हो। [illegible] मिथ्या हो, और जीना ऐसे जीने के लिए हो जैसे मरने [illegible] है।

आग्रही मालूम होता था।

कुछ नही है, एक दम कुछ नही है। लेकिन हा, शायद वाह है और उस वाह का घेरा है। उस घेरे मे घिरने के लिए लीलाधर अनायास अपने सोच से उबरे और चारो तरफ के भीषण नकार को देखते-देखते मुस्कराते स्वीकार ने लील लिया!

पर रात बीतती है, सवेरा आता है और उसके साथ मानो कर्त्तव्य जागने लग जाता है। लीलाधर ने फोन किया डी० एस० एम० को। इस समय वह तने अफसर न थे और लीलाधर के कहने पर कि क्या हम लोग आकर शव देख सकते हैं? उन्होने अभ्यर्थना के साथ कहा, "अवश्य आइए। सीधे मेरे दफ्तर मे आइएगा तो कोई असुविधा न होगी। मैं साढे आठ बजे पहुच जाता हू।"

लीलाधर ने कहा, "चलोगी?"

"अब, सबेरे ही सवेरे इतने काम की भीड़ मे?"

"देख लो, लेकिन चलना चाहिए।"

"तो चलो, दया को भी बुला लू?"

"दया को—बुला लो।"

दया सहेली है। तत्पर और सेवा भावी है। और हिम्मत के कामो मे आगे रहा करती है।

डी० एस० एम० ने पहुचते ही लीलाधर जी का स्वागत किया और तत्काल फोन से हिदायत दी कि एक मित्र आ रहे हैं, उन्हें कोई कष्ट न हो। और शव नम्बर 'अ' उन्हे दिखा दिया जाय।

लीलाधर ने पूछा कि शव का क्या किया जायेगा?

"कोई अगर नही मागता है, तो अडतालिस घटे के बाद उसको किनारे कर दिया जाता है। आप शरीर ले जा सकते है, चाहें तो।"

"शरीर—क्या आपके किसी उपयोग मे नही आ सकता?"

"क्यो नही! यहा तीन मेडिकल कालेज हैं। सबको जरूरत रहा करती है।"

पत्नी की सहेली दया का आग्रह हुआ कि नही, शरीर की विधि-वत् अन्त्येष्टि होनी चाहिए। सब झंझट और खर्च दया भुगतने को तैयार हुई। तैयार हुई कि शरीर को अभी साथ ले चला जायगा। मालूम हुआ कि पत्नी भी इससे सहमत है और उद्यत है कि शरीर को साथ ले चलो और खर्च सब अपनी तरफ से होगा।

लीलाधर ने कहा, "अडतालीस घटे लाश को सडाने से क्या फ़ायदा ?"

डी० एस० एम० ने बताया कि एतिहात की जाती है लाश की। वर्फ वगैरह का पूरा इन्तज़ाम रहता है।"

मानना होगा कि माकूल इन्तजाम है मुर्दों के लिए। जीनेवालो के लिये अगर नही है तो सिर्फ इसलिये कि जीते फिर वे आखिर किस-लिये हैं ? लीलाधर ने कहा, "अभी क्यो नही लाश को कालेजो के इस्तेमाल के लिए भेजा जा सकता है ?"

"आप लिखकर दें कि वारिस कोई नही है और हमको इजाजत दें तो फौरन इन्तजाम हो सकता है।"

लीलाधर के मन मे वही पहली रात वाला गुस्सा उठ आया था। उनके मन मे हुआ कि जीतो की या मुर्दों की जिस कदर चीड़-फाड हो और उसमे से ज्ञान-विज्ञान की जितनी व्यर्थता को निकाला जाय, उतना अच्छा है। लीलाधर ने उसी वक्त कागज लेकर उस पर लिख दिया कि अस्पताल वाले लाश का मुनासिब इन्तजाम कर सकते है। उसे सभालने वाला कोई नहीं है।

उसके बाद तीनो मुर्दाघर गये। आदमी ने ताला खोला और जिस कमरे मे दाखिल हुए, वहा थैले मे बन्द दो लाशें तख्तो पर बिछी थी। एक पर बर्फ की दो जगह आधी-आधी सिल्लिया रखी थी। बराबर मे गठरी सी थी जिसमे मालूम हुआ कि एक बच्चे की लाश है। तीसरी लाश सुखिया वाली थी। आदमी ने गाठ खोलकर कपडे से उसका चेहरा बाहर किया था। वह चेहरा राख सा सफेद और शान्त था।

दया ने कहा, "देखो, वहन जी ! कैसा शान्त चेहरा है। कष्ट से नही मरी, सुख-साता से मरी है।"

"हा, देखो, पलक जैसे चाहिये वन्द हैं, माथे पर सलवट नही है। कष्ट की कोई लकीर नही है। हे राम !"

लीलाधर कमरे को देख रहे थे। नीचे टीन का वडा वक्स था। एक तरफ कई कुडो सी जडी अलमारी थी। मालूम हुआ, गर्मियो मे खास कर मुर्दे ज्यादे हो जाते हैं तो वक्स मे भर दिये जाते है। अलमारी भी इसी काम के लिये हैं।

"भर दिये जाते है ?"

आदमी ने कहा, "जी नही, इन्तजाम पूरा रहता है, वर्फ वगैरह का। मजाल कि वदवू आये।"

लीलाधर ने कमरे को चारों तरफ से देखा, खिडकी से वाहर सफेद हड्डियो के टुकड़े-टुकडे हुए ढाचे पडे थे। और देखा कि पत्नी और दया सुखिया के शान्त चेहरे को देख रही है। उन्होने कहा, "चलो !"

और तीनो चले आये। और शव रह गया और वाहर सब वैसे ही हुआ जा रहा था जैसे हो रहा था।

दिसम्वर, '६४

उलट फेर

अन्त मे अडतालीस वर्ष की अवस्था मे प्रमीला रस्तोगी को तय करना पडा कि वह इन्टरव्यू मे जाएगी और लाइब्रेरियन की जगह पाने का प्रयत्न करेगी । अभी माधव पढ रहा है, राघव भी स्कूल मे है, और उनके पिता से कुछ आशा नही हो सकती है ।

आशा थी सुशीला से । वह पुरानी साथिन है और भाग्य से स्कूल की मुख्याध्यापिका है । दूसरे उसने सुना था कि इन्टरव्यू मे माथुर बैठने वाले हैं । वह 'इनके' सहपाठी रहे थे और विवाह जब नया था तो कभी कदास घर पर आ जाया करते थे । प्रमिला ने उन्हे देखा नही, न उन्होने प्रमिला को देखा था । घर बडा था और पर्दा रहा करता था । वह भी शर्मीली थी, सुन्दर मानी जाती थी इसलिए और भी शर्मीली थी । किन्तु शायद है कि नाम की याद उन्हे हो और इस कारण इन्टर-व्यू मे प्रमिला को सहारा हो जाए । माथुर बढते-चढते गए थे और इसी सस्था मे सम्बद्ध एक इन्टरमीडियेट कालेज के प्रिंसिपल के पद मे नियुक्त हुए थे ।

इन्टरव्यू खैर हो गई और प्रमिला को उसमे नियुक्ति भी मिल गई । लेकिन पौने दो सौ की जगह वेतन उसका सवा सौ नियत हुआ । इस पर उसने सुशील से पूछा, "सुशीला, यह वेतन के मान मे फर्क क्यो पडा ? और बताओ मुझे क्या करना चाहिए ?"

सुशीला ने कहा, "मैं क्या करती ? तुम्ही ने मेरा मुह सी दिया था । और यह माथुर साहब थे जो पौने दो सौ के लिए राजी नही थे ।"

"माथुर साहब !"

" हा । उन्होने कहा कि पौने दो सौ वेतन देना हो तो हम प्रतिभा

को क्यो न रखे जो बी ए की जगह एम ए है। मेरा आग्रह तुम्हारे लिए था। उन्होने कहा कि अगर तुम एम. ए की जगह बी ए. को ही रखना चाहती हो तो ठीक है, रख सकती हो। लेकिन फिर सस्था को कुछ लाभ भी होना चाहिए। अगर तुम्हारी कॅडिडेट सवा सौ लेने को राजी हो तो उनकी नियुक्ति हो सकती है। मैंने इस पर बहुत प्रतिवाद किया। लेकिन माथुर साहब अपनी बात से न डिगे। बताओ मैं क्या करती ? मुझे ध्यान भी आया, इशारे से तेरी बात कह दू। लेकिन भलीमानस, तूने तो मुझे कसम दिला दी थी।"

प्रमीला ने कहा, "तो माथुर साहब वही थे जिन्होने तुम्हारी बात को टाल दिया था, इन्टरव्यू मे कि जब तुमने मेरे बारे मे कहा था, यह सस्कृत भी जानती है, बी ए मे एक विषय इनका सस्कृत था। ओह ! वही न जो सुनकर अवज्ञा से हस पडे थे, बोले थे, एक विषय तो ऐसे बहुतो का होता है। मैं नही समझती थी कि माथुर ऐसे होंगे !"

"हा, बडे सख्त है। मैंने कहा भी, तुम्हारी स्थिति के बारे मे कि दो बच्चे हैं, असहाय है। लेकिन माथुर साहब बोले, कि हम क्या कर सकते हैं। यह शिक्षण सस्था है, सदावर्त तो है नही।"

"अच्छा, यह कहा !"

"और सच बताऊ सुशीला, मुझे लगता है कि वह तेरा चेहरा देख कर खुश नही हुए। तुझे पता है कि तू अब तक गजब की खूबसूरत बनी हुई है और कुछ मर्द होते है जो अपने को बतलाना चाहते हैं कि अह, हमे सुन्दरता का आकर्षण नही खीच सकता। सच कहती हू जरा तू कम सुन्दर होती तो डेढ सौ तो मै तुझे जरूर ही दिला सकती थी।"

"चलो, हटो ! तुम तो कहती थी कि सुन्दरता मेरे काम आएगी। और अब यह ··"

"मै क्या करती, तुम्ही नीची, भोली-सी निगाह किए बैठी रही, मौका था कि एक कटाक्ष ही छोडा होता। पर तुम तो · "

"हसी न करो सुशीला। मै पचास की होने जा रही हू···यह

बताओ, मैं क्या करू, स्वीकार कर लू ?"

"नही तो क्या करोगी ?"

'यही सोचती हू कि नही तो क्या करूगी। लेकिन बडा अपमान जैसा मालूम होता है।"

सुशीला ने गहरी सास छोडी । वह इस प्रमीला के प्रति प्रशसा से भी आगे अब लगभग श्रद्धा के भाव रखती थी। छोटी थी, तभी से वह प्रमीला की विलक्षण सुन्दरता के जादू मे आ गई थी । उसके बाद जीवन निकलता चला गया। प्रमीला जो हर तरह सम्पन्न थी। अब इस अवस्था मे आकर विपन्न और प्रार्थिनी बन आई थी। और सुशीला जो आरम्भ मे असहाय जैसी ही थी, अब इस हाई स्कूल की अधिष्ठात्री थी। वह कुछ दग थी भाग्य के खेल पर। दग यह देख कर भी थी कि प्रमीला भाग्य के थपेडे खाते-खाते भी हारने को तैयार नही है और जीवन से जूझे ही चली जा रही है। उसने क्या-क्या नहीं देखा ? क्या-क्या नही सहा ! क्या था जो छुटपन मे उसे प्राप्त नही था। राजसी ठाठ-बाट और लाड-प्यार मे पली। दूसरी होती उसकी जगह तो टूट ही गई होती। लेकिन प्रमीला जी ही नही रही है, अपने को पूरी तरह सचित रखे हुए चल रही है । बिखरी नही है जरा भी। सौंदर्य उस पर से अब भी उतर नही गया है। वह है और समाहित है। एक विस्मय-जनक सम्भ्रम अब भी उसके व्यक्तित्व के आसपास दीखता है।

सुशीला यह सोचती हुई प्रमीला को देखती रह गई। एकाएक कुछ बोली नही।

प्रमीला ने कहा, "बताया नही, मुझे क्या करना चाहिए ?"

सुशीला का मन भारी हो आया । बोली, "बताने को उसमे क्या है ? स्वीकार करना ही पडेगा । स्त्री की विवशताएं हैं। लेकिन सुन, अब भी कुछ बिगडा नही है। माथुर साहब बात को सभाल सकते है। तू मुझे कहने क्यो नही देती कि तू......"

"नही सुशीला, नही। तुझे मै फिर कसम देती हू।"

"आखिर क्यो ?"

"नही मैं कृपा नही ले सकती। उनके नाते आई कृपा तो और भी किसी तरह नही ले सकती।"

'तो बता, मै क्या करू ? तेरी हालत मे पचास रुपये का फर्क कम नही है और तू कहने देगी तो मै समझती हू आगे तरक्की का रास्ता भी खुल जाएगा। और तू सच जान, माथुर अपना बचाव कर रहे हैं। बचाव की जरूरत नही रह जाएगी तो वह बहुत उदार हैं और आगे तेरे सामने कोई कठिनाई नही आयगी।"

"फिर वही, सुशीला ! कह चुकी हू, वह नही हो सकता। देखना किसी तरह का जिक्र उनसे न करना। और चलो, यह सवा सौ ही सही। कोशिश करूगी कि इतने मे सबके पेटो के लिए आटा दाल तो जुड जाए।"

नियुक्ति हो गई। और प्रमीला काम करने लगी। नौ बजे जाती और छ बजे घर आ पाती। सब काम अपने हाथो से करना पडता। सिर्फ बर्तन साफ करने के लिए महरी रखना जरूरी हो गया था लेकिन उसको दिया जाने वाला वेतन अखरे बिना नही रहता था। राघव की फीस माफ नही होती थी, माधव ने एक छोटी सी तीस रुपये की ट्यूशन कर ली थी। जैसे तैसे गाडी खिच रही थी। रहने को तीनो के लिए एक बरसाती हाथ आ गई थी। किराया उसका पच्चीस रुपया। प्रमीला का बडा लडका दूर निकल गया था। वह कभी छठे छमाहे कुछ रुपया भेज दिया करता था। पर इधर उसे भी कठिनाई थी। उमर आ गई थी, और उसे विदेशी कन्या से प्रेम हो गया था। ऐसे मे छठे छमाहे भी कुछ आ जाए, यही क्या कम था !

यो डेढ एक साल खिच गया। काम के बोझ के कारण प्रमीला का शरीर दर्द देने लगा था। बरसाती तीसरे मजिल पर थी। चढते उतरते अब वह हाफ जाती थी और जोड पिराने लगे थे। उसके मन मे रहता था कि जैसे भी हो, बच्चो को काबिल करना है। उनके मन को मरने

या दवने नही देना है। खुद अपने पर कितना भी वोझ क्यो न पड़े ! चाहे काम का, चाहे चिन्ता का या निन्दा का। उसे लगने लगा था कि जीवन सचमुच वलिदान है। एक का वलिदान ही है जो दूसरे को यहा खिलाता है। और यदि उसका जीवन खुद पिस रहा था तो माधव और राघव तो थे जो उस पर पल-बढ रहे थे । यही मानो उसकी अपनी सार्थकता थी और इसी मे वह हर दिन के सवेरे को उसकी शाम से मिला देती थी । अवेरे तडके उठती और काम मे प्रवृत्त हो जाती। माधव और राघव दोनो को खिला-पिला कर नौ वजे ड्यूटी पर पहुच जाती। शाम को हारी थकी छ वजे आती और फिर रोटी-चूल्हे के झझट मे जुड जाती । माधव ने जो शाम की ट्यूशन ली थी, सो रात नौ वजे घर आ पाता था। राघव भी इन कठिनाई के दिनो मे से अपने लिए शिक्षा ग्रहण कर रहा था। वह मा के लिए जितना वनता सहाई और उपयोगी होने की कोशिश किया करता था।

इसमे फुर्सत ही न मिलती किसी वात की । दूसरे तीसरे महीने बच्चो के पिता की चिट्ठी मिलती तो उसका मन उखड आता था। अधिकाश चिट्ठी उनको नही आती थी, वच्चो को आती थी। वही उनके दु ख के उभार के लिए काफी हो आती थी। लेकिन अच्छा था कि काम का ताता ऐसा था कि दु ख को सहलाने को समय न छोडता था। और जिन्दगी की गाडी रुक न पाती थी, आगे सरकती वढती ही जाती थी।

सुशीला कभी-कभी घर आ जाती या प्रमीला ही सुशीला के पास चली जाती। या तो नाते-रिश्तेदारी से कभी किसी टेले का वुलावा आ पहुचता और वचना सभव न होता। लेकिन नातेदारियो का निवाह भारी वहुत पडता और उसके मन का वोझ वढ जाता। कारण, अकेले होकर जिन्दगी से जूझती हुई नारी के लिए सराहना के भाव होने का कायदा समाज मे नही पाला जाता है ! उसमे भी यदि वह निन्दा दवी-ढकी हो, मुह पर खुल कर न आती हो, वस एक ऊपरी शिष्टाचार के व्यग्य से ही प्रकट हो पाती हो, तव तो वह असहनीय ही हो जाती है।

पर असह्य को भी सहा जाता है और जीना पडता है।

बात बहुत पुरानी है। माथुर साहब के एक छोटा भाई था। नाम था शेखर। वह प्रमीला के बडे लडके वीर से एकाध साल ही बडा होगा। जब-तब घर पर आ जाया करता था और वीर के साथ प्रमिला को वह भी भाभी कहता था। उन्हे बहुत ही मानता था। भाभी को भी उससे बडा लाड था। कभी वह माथुर साहब के साथ आता। तब माथुर तो बाहर मरदानी बैठक मे अपने सहपाठी मित्र से बतियाते रहते और शेखर की भाभी भूले भी बाहर न निकलती। शेखर भीतर अपनी भाभी के पास रहकर और मचल कर जाने क्या क्या उनसे सुनता और लेकर खाता रहता था।

हुआ यह कि प्रमीला को वह शेखर ही मिल गया। खासा जवान हो गया था। लेकिन देखते ही पहचानने मे उसे देर न लगी। वह आया और एकदम भाभी से लिपट गया। प्रमीला बेहद सकुचित हुई। माथुर साहब के यहा कोई पार्टी थी और स्कूल के कर्मचारी के नाते प्रमीला भी वहा गई थी। उस पार्टी मे अनेकानेक गणमान्य लोग थे। प्रमीला एक किनारे बच-बच कर निभ रही थी। शेखर के इन अचानक प्रेमाक्रमण पर वह घबरा आई। बोली, "अरे, शेखर! तू है? लेकिन जरा देख भाई चुप कर, कोन नही।"

शेखर भाभी से हट तो गया, लेकिन उसके मन मे बहुत उत्साह था। कैसे बताता कि इन पन्द्रह-बीस वर्षो के अन्तराल मे भाभी बराबर उनके मन मे क्या बनी रही है। किन्तु भाभी की भिझक पर अन्त मे उसको भी कुछ अटपटा लगा और थोडी देर बाद वह चुपचाप वहा से चलकर माथुर साहब के पास आ गया। उन्हे खबर दी कि यहा भाभी आई हुई है।

"भाभी, कौन भाभी?"

"वही, रस्तोगी साहब वाली। आप भूल गए?"

माथुर एकदम आश्चर्य मे पड गए। पुरानी गडी बात मन मे नई

और जीती हो गई । पढाई के वाद अभी जीवन शुरू ही हुआ था। सहपाठी मित्र के यहा जाते थे और कभी वहा हठात् इधर से उधर जाती हुई रमणी की पगध्वनि उन्हे सुन जाती थी। कभी अचानक उसके पगतल भी दीख जाते थे। अचानक, क्योकि वह फौरन उधर से आख हटा लेते थे। एक ही वार शायद ऐसा हुआ था कि उनके दोनो हाथ भी दीख गए थे। चेहरा दीख सकता था यद्यपि साडी की कोर को काफी आगे तक ले आ गया था और उसको पर्दे का निमित्त समझा गया था। देख सकते थे और देखना भी चाहते थे। लेकिन देखना सभव हो नही सका था। और मन ही तो है। फिर वय की वात है। तव जाने क्या चित्र क्षण मे वन जाएगा और शाश्वत होकर रह जाएगा। कुछ ऐसा ही उनके साथ हुआ था। वोले, "क्या वकता है ? वह यहा कहा आएगी ?"

शेखर ने कहा, "लाऊ उन्हे यहा बुला के ?"

"हा, ले के आ।"

शेखर ने जाकर कहा कि भाई साहव वुला रहे है। सुनकर प्रमीला धक् से रह गई। इसी क्षण को वह डर रही थी। हुआ कि कह दे वह नही जा सकेगी। पर माथुर माथुर ही न थे, स्कूल कमेटी के उपाध्यक्ष भी थे। मनमारी वह साथ-साथ हो ली जैसे वन्दिनी हो।

पार्टी का अवसर था और आस-पास भीड थी। प्रमीला शेखर से एकाध डग पीछे रह गई थी। पास पहुचने पर माथुर साहव ने शेखर से कहा, "अरे कहा है तेरी भाभी ?"

अनायास उत्साह से वह वोल पडा, "क्यो, यही तो है !"

वोलने के साथ उसने अगल-वगल देखा और पीछे एक कदम हटकर प्रमीला को वाह से पकडा और माथुर साहव की ओर आगे वढा दिया।

माथुर ने देखा। जैसे उन पर गाज गिरी। सामने प्रमीला मुरझाई सी जा रही थी। वह आख उठाकर देख नही सकती थी।

माथुर को सव भूल गया। अपनी आयु भूल गई, पद भूल गया।

अपना आपा ही जैसे उनसे खो गया। क्या इन्हीं के सौन्दर्य से अपने को बचाने के लिए वह सख्त हुए थे। क्या इन्हीं के वेतन का पचास रुपया कम कर डाला था! वह किसी तरह अपने को समझ नहीं सके। उनकी कल्पना बेकाम हो गई। सम्पन्नता की किस ऊंचाई पर उन्होंने इस महिला को देखा था—वह भूल नहीं पाते थे। बल्कि देखा कहां था? नहीं तो झांकी तक नहीं पाई थी। देखने की स्पृहा ही मन में जुटाकर रख पाई थी। वही उनके अधीन मामूली-सी जगह की नौकरी पाने की प्रार्थिनी बनकर आने को विवश हुई! यह सहसा उन्हें अकल्पनीय और असहनीय हुआ। मानो वह अपने को धिक्कार रहे हों। इस धिग्भाव में माथे में बल डालकर वह वहां से एकदम लौट पड़े। एक शब्द भी प्रमीला को नहीं कहा। सिर्फ ताकीद के स्वर में शेखर को कहा, 'इधर आओ।"

शेखर जाते हुए भाई साहब के पीछे चल दिया और प्रमीला अपराध की मूर्ति बनी-सी वहीं अकेले खड़ी रह गई। उसको भी एक क्षण कुछ नहीं सूझा। फिर एकाएक नाना दुसम्भावनाएं उसके माथे में कोलाहल मचाती हुई भागने-दौड़ने लगीं। उसके मन में निश्चय-सा बनकर जाग उठा कि अब उसकी नौकरी समाप्त हो गई है। उसके साथ जैसे सारा भविष्य भी उसके लिए समाप्त हुआ जाता लगा। माथुर के माथे पर पड़े वक्र को देखकर उसके चित्त में संशय नहीं रह गया था—या बड़ा संशय पैदा हो गया था!

शेखर लौटा तो उसकी भाभी वहीं की वहीं खड़ी थीं। उनका चेहरा देखकर वह सन्न रह गया। उसका मन उछला आ रहा था। लेकिन अब ऐसा बैठा कि उसको कुछ नहीं सूझा। उसने बांहें अपनी भाभी के कन्धों पर कीं और मानो उन्हें थामते हुए वह उन्हें ले चला। कहा, "भाभी, अभी जाना नहीं होगा। भाई साहब ने कहा है कि ठहरना होगा।"

प्रमीला ने शेखर को देखा। जैसे वह शब्द समझ नहीं पा रही थीं।

शेखर ने जल्दी से कहा, "भाई साहब ने कहा है, पीछे हम पहुचा देगे घर ! ताकीद से कहा है कि तुम्हारी भाभी अभी जाएगी नही, कह देना ।"

प्रमीला ने सुन लिया । उसको अपना अपराध समझ न आ रहा था । लेकिन अब एकाएक शेखर के स्वर से हठात् उसे लग आया कि कही उसका भय निर्मूल ही तो नही है ? फिर भी डेढ साल के अनुभव मे उसने पाया था कि माथुर साहब उसकी तरफ खासतौर से सख्त है । उसे तरक्की नही मिली है और उस पर दूसरी ताकीदें भी रही हैं । जाने एक साथ आश्वासन और आशका से कैसी वह मथी जाने लगी ।

"क्या हुआ भाभी ?"

शेखर की भाभी कुछ नही बोली ।

"यह तुमको क्या हो रहा है ?"

"कुछ नही ।"

शेखर की बाहो ने अनायास भाभी को कन्धो-से जैसे अपनी ओर खीच कर सरक्षण मे लिया । उस दबाव पर एकाएक प्रमीला मे सशय कटता चला गया और विश्वास भरने लगा ।

भीड छट चुकी थी, लोग चले गए थे और प्रमीला माथुर साहब के सामने अकेली बैठी थी । शेखर था और कमरे से वह जा चुका था । गए एकाध मिनट हो गए और उन दोनो मे कोई कुछ नही बोला था ।

अन्त मे माथुर ने कहा, "प्रमीला !"

स्वर भारी था और काप रहा था । प्रमीला ने घबडा कर ऊपर देखा ।

माथुर ने अपनी निगाह नीची नही की । वह प्रमीला को देखते रहे । देखते-देखते उनकी आखो मे आसू भर आए । भर कर वे टप-टप गिरने भी लगे ।

प्रमीला विमूढ-सी बैठी रह गई । स्कूल की वह कर्मचारिणी थी, माथुर उपाध्यक्ष थे । यह न होता और प्रमीला नारी हो सकती तो पुरुष की ओर बढकर वह सान्त्वना देती और आसू न बहने देती । पर

अब वह विमूढ बनी बैठी रह गई।

माथुर निर्लज्ज निर्व्याज कोई दो मिनट तक टप-टप आसू गिराते रहे। निगाह उन्होंने नही हटाई और बोले भी नही। अन्त मे उन्होंने रूमाल निकाला, आखें पोछी, नाक साफ किया और भर आते कठ-से बोले, "प्रमीला !·· यह तुमने क्या किया ?"

प्रमीला चुप रह गई।

"बताया क्यो नही मुझे ? मेरे हाथो यह पाप क्यो करवाया ?"

प्रमीला अब भी कुछ बोल नही सकी।

माथुर ही कहते गए "और अब कुछ हो भी नही सकता है।·· छोटो, देखा जाएगा। पर प्रमीला, यह हुआ क्या ?"

पूछकर माथुर उसे कोरे से कुछ देर देखते ही रह गए तो प्रमीला ने अपने को समाहित किया।

बोली, "होता क्या, भाग्य का उलटफेर। और क्या ?"

"वह कहा है—सरूप ?"

"शायद·· नौकरी मे हैं।"

"शायद ?·· और तुम ?"

"मैं यहा हू—आपके स्कूल मे।"

माथुर सुनते और देखते रह गए। आखिर पछताए-से स्वर मे वही बोल पडे, "मुझे बताया क्यो नही तुमने पहले ?"

"क्या बताती ?"

"मुझे पहचान तो सकी थी न ?"

"नही।"

"पहचाना नहीं ? ·जानती तो होगी ?"

"जानती थी इसीलिए तो स्कूल मे नौकरी के लिए दरख्वास्त दी थी। लेकिन मैंने पूरी तरह आपको देखा कब था कि पहचानती ?"

माथुर कुछ देर रुके, फिर बोले, "मैंने देखा था। चेहरा नही देखा था, पाव देखा था। और एक बार हाथ भी देखा था। और चेहरा··

नही, देख नही पाया। देखा होता तो यह पाप कैसे होता ? लेकिन तुम अकेली क्यो हो ? बताओ, मैं कुछ कर सकता हू ?"

"क्या सब अकेले नही है ? और इसमे कौन क्या कर सकता है ?"

माथुर प्रमीला को देखते रह गए। समझ गए यह महिला सपनो मे पली अब अन्त पुर वासिनी नही है। जीवन यथार्थ के अनुभवो ने बाहर से बादाम की तरह इसे कठोर बना दिया है। शायद वह कठोरता ही है जिसने इसे टूटने नही दिया है और उसकी सुन्दरता की कसावट को ज्यो का त्यो रख लिया है। ठीक है, शायद यही ठीक है। विधाता के मर्म को कौन जानता है ? बोले, "प्रमीला ! तुम पर्दे के पीछे हर तरह की सुख-सुविधा के बीच रहती थी। मैं मास्टर लगा था और तुम्हारी परिस्थितियो की ओर ऐसे देखता था जैसे धरती पर से कोई स्वर्ग को देखता है। और तुम 'नही, मैं ज्यादे नही कह सकूगा। इतना ही पूछना चाहता हू कि मुझे माफ कर सकोगी ?"

"आपने मुझे नौकरी दी है।"

"देखो, इस बात को फिर मुह पर न लाना।" छोटा लडका तुम्हारा किस स्कूल मे पढता है ? माधव के कालेज मे क्या-क्या विषय है ? देखना, कुछ हो मुझे जरूर मौका देना। सरूप तब भी सनकी था। छोडो तुम्हे कष्ट होता है, उसकी बात छोडो। लेकिन अगर तुमने अब आगे किसी तरह का कष्ट पाया, नित्य-निमित्त की आवश्यकता मे सकोच किया और मुझे नही कहा तो मुझसे मेरा कसूर उठाया नही जायगा। और दोष तुम्हारा होगा। सुनती हो प्रमीला ! हुआ सो हुआ, आगे मुझे और दड न देना।"

प्रमीला ने मुस्कराकर कहा, "आपने नियुक्ति के समय मेरे पचास रुपए कम क्यो किए थे ?"

"मैं पागल हो गया था।"

"क्यो ?"

"पागल होने मे भी कोई 'क्यो' होता है ?" 'तुम एम ए० नही थी

और सच कहूं ? · मैं भी एम ए नहीं हूं ।"

प्रमीला हंस पड़ी । कहने को हुई "और · "

माथुर ने बीच में ही कहा, "और ? ··वजह हो तुम ।"

प्रमीला मुस्कराई । बोली, "मैं !"

"हां, तुम ।"

और अब आयु का साठवां वर्ष निकट आ रहा है । बड़ा लड़का माधव एम ए० करके अच्छी नौकरी पर लग गया है । राघव की अन्त तक फीस माफ रही और वजीफा मिलता रहा । अब बी ए० करके वह भी नौकरी पा गया है । प्रमीला स्कूल में लाइब्रेरियन चल रही है । नौकरी जाने की सूरत नहीं है । सरूप पति है और दूर हैं और खाली हैं और ऐंठे हैं और दुनिया जारी है ।

फरवरी '६५

चक्कर—सदाचार का !

मैं कुछ चक्कर मे हू । मालूम न था कि सदाचार मे भी चक्कर निकल आएगा ।

शायद अपने बारे मे कुछ यहा कहने की जरुरत है । तीस वर्ष का हू, विवाहित हू, अच्छी आय है । लेकिन मुझ पर काम की जिम्मेदारी बिल्कुल नही है और एक कार मेरे लिए अलग कर दी गई है । पिताजी का कहना है, जिसमे भाई साहब सहमत है, कि फल बडो की सेवा का मिलता है । काम करने वाले हम हैं ही तुम पढे-लिखे हो, समाज-सेवा की रुचि रखो और सार्वजनिक सम्पर्कों की ओर ध्यान दो । यह सलाह मेरी वृत्ति और प्रकृति के अनुकूल है और मैं मिलने-जुलने का काम किया करता हू ।

अब बात यह है कि सदाचार की जरूरत है—और भ्रष्टाचार की बिलकुल जरूरत नही है । कहा जाता है कि भ्रष्टाचार यो रहा होगा हर काल मे, पर जरूरत की मात्रा के अन्दर । अब जरूरत की रेखा से वह बाहर आ रहा है ।

ठीक ही है कि समाज के और राज के नेता लोग उधर ध्यान दे । उस ध्यान देने के कारोबार मे मेरे जैसा व्यक्ति सम्मिलित न होगा, यह कैसे हो सकता है । मेरे पास समय था, कार थी, साधन थे और काम बेहद आवश्यक व समाजोपयोगी था । अत देखा गया कि मैं दोड-धूप मे हू और भ्रष्टाचार की रोकथाम के प्रयत्नो मे व्यस्त हू । सदाचार होना चाहिए और उसको जारी करने और रखने का काफी भार अपने कधो अनुभव करता रहता हू ।

लेकिन अवस्था मेरी तीस ही वर्ष है । इस कारण कुछ मर्यादाएं हैं ।

हुआ यह कि सदाचार समिति के अध्यक्ष का स्थान खाली हुआ, जो थे उनको बड़ा ओहदा दिया गया और वह दूर चले गए। कुछ दिनों तक सोच-विचार चलता रहा। एक रोज मिस्टर वर्मा, जो यों सदाचार में कुछ न थे, मगर डिप्टी सेक्रेटरी थे और सदाचार वाली समिति के लिए नेपथ्य के सूत्रधार थे, एकाएक पूछ बैठे, "शर्मा जी को जानते हो ?"

"कौन शर्मा जी ?"

"अच्छा, नहीं जानते हो ?"

उस प्रतिप्रश्न में लगा, यह तो बात गड़बड़ हुई जा रही है। मैंने जल्दी से कहा, "शर्मा जी, एक तो अपनी ही तरफ है, कमलानगर में।"

मिस्टर वर्मा ने मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में दया थी और मानो क्षमा भी थी। मुझे लगा कि मैं उस निगाह में गिर रहा हूं। मुझे हर हालत में नवते रहना चाहिये था। इसलिये कहा, "कहिए, उन्हें क्या कहना होगा ?"

"जाने दो, तुम उन्हें नहीं जानते।"

"लेकिन—जी—"

मिस्टर वर्मा जरा हंसे और घंटी बजा कर सेक्शन आफिसर ने मालूम किया कि हां, शर्मा जी इधर कमला नगर में ही रहते हैं।

मैंने झटपट कहा कि—उन्हें तो मैं खूब जानता हूं। कहिए ?

वर्मा मुस्कराए, बोले, "एच० एम० का ख्याल था कि अध्यक्षता के लिए उनसे कहा जाय। तुम—"

"शर्मा जी से ?"

मैंने भरसक स्वर को हुमानी रखा। शर्मा जी थे तो एक हमारे मोहल्ले में, पर मनकी से आदमी समझे जाते थे। सात वर्ष की अपनी सार्वजनिक दौड़-धूप में कभी मुझे उनकी आवश्यकता नहीं हुई। सुना था कोई हैं, कुछ हैं। लेकिन अध्यक्षता के प्रसंग में इस तरह उनका नाम सीधे एच० एम० की तरफ से सुनने को मिल जाएगा, इसकी

कल्पना भी कभी मुझे न हो सकती थी। वही नाम मिस्टर वर्मा की ओर से चुनौती की तरह चौंकाता हुआ, जब मेरे समक्ष आया तो बहुत समझिए कि मैं अपना सतुलन बचाये रख सका और यह नही प्रगट होने दिया कि शर्मा जी के व्यक्तित्व के लिए मेरे मन मे कम आदर है। कहा, "शर्मा जी से बताइए, क्या कहना होगा ? वह तो मुझे बेहद अपना अजीज मानते है। मैं अवश्य उनसे कह सकता हू और स्वीकारता ला सकता हू।"

वर्मा ने मुझे देखा। फिर उनके होंठो मे मुस्कराहट का वक्र था। पूछा, "तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

"शर्मा जी," मैंने टटोलते हुए कहा— "एच० एम० ने बहुत मुनासिब सोचा है।"

"तो जाकर तुम उनसे मिलो। अभी अध्यक्षता की बात कहने की जरूरत नही। बस रुख देखो और मुझसे कहना। तब एच० एम० खुद मिलना चाहेंगे।"

एच० एम० खुद मिलना चाहेंगे कि अध्यक्ष होने के लिए समक्ष निवेदन कर सके ! मुझे लगा, दुनिया गलत है और कही कुछ भूल है। लेकिन कहा कि अच्छी बात है और शाम को ही मैं आपको वापिस आकर मिल सकता हू।

वर्मा ने कहा कि नही, जल्दी की बात नही है और परसो से पहले शायद उनसे मुलाकात भी न हो सके।

मैंने कहा कि अच्छा, और देख लिया कि गम खाए बिना दुनिया मे चलना नही हो सकता है, और अफसर सदा अफसर होता है।

पर यह सब तो भूमिका हुई। शर्मा जी के यहा जाना हुआ तो वहा ड्राइग रूम तक न था। बाहर एक तख्त पडा था। मालूम हुआ कि यही बैठना होगा। पाच बरस का एक बच्चा आकर मेरा कार्ड भीतर ले गया और पाच मिनट तक मैं उस छोटे से बरामदे के सूने मे बैठा देखा किया कि अजब तमाशा है। मैं यहा बैठा हू कि जहा तरीके से बैठना भी नही

नसीब हो सकता। और बैठा इसलिए हूं कि एम० एम० इन महाशय से मिलना चाहते हैं और मैं किसी तरह एम० एम० तक अपनी पहुंच बनाना चाहता हूं। कुछ बेतुकी सी मालूम हुई वह पांच मिनट की देर कि जब शर्मा जी बरामदे में उपस्थित हुए। मैंने खड़े होकर हाथ जोड़े और उन्होंने कंधा पकड़कर पहले मुझे उसी तख्त पर बिठाया और बराबर में फिर खुद बैठ गये। पैरों में लकड़ी की चट्टी थी और पहने हुए थे आधी धोती और आधी बांहों की बंडी। चेहरे में कोई खास प्रभाव नहीं नजर आया। सौम्य था अवश्य, पर रोबीला नहीं कह सकते।

"कहो, भई, यहीं रहते हो, कमला नगर ?"

"जी।"

"ऐसे न बोलो, जैसे मैं तुम्हें जानता नहीं हूं,—शालीग्रामजी के तो लड़के हो न ? कहो, कैसे कष्ट किया ?"

"अ—हम लोग सोचते थे कि इधर आप कुछ उदासीन रहते हैं। देश की अवस्था विषम है। पद की लोलुपता है। भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। ऐसे में आप से कहें कि उदासीन रहने का हक नहीं है, आइए और हम नौजवानों का मार्गदर्शन कीजिये।—लोग पर नैतिक मूल्यों की तरफ बड़ा दुर्लक्ष हो रहा है आजकल। एक आपा-धापी चल रही है। देखिए की दवा तक शुद्ध नहीं मिलती। खाने-पीने की चीजों में तो मिलावट की हद नहीं रह गई है। 'घूसखोरी की पूछिये ही नहीं। इस घोर दशा में आपको उठना चाहिए और ...'"

"ठीक है, ठीक है। तुम कर क्या रहे हो ?"

"छह वर्ष हुए पालिटिक्स में एम० ए० किया था। लेकिन हर परिवार को कम-से-कम एक आदमी तो देना चाहिए देश सेवा के लिए। पिता जी ने यही सोचकर काम का बोझ मुझ पर नहीं डाला है और आप-जैसों के मार्गदर्शन में सेवा के निमित्त छोड़ दिया है।"

"बच्चे कितने हैं ?"

"एक।"

"लडका है ? कितने वर्ष का है ?"

"दो वर्ष की वच्ची है ।"

"तो तुम देश के काम मे हो ?"

"जी ।"

"अच्छा है, अच्छा है ।"

वात खतम सी लगती थी । मैंने हठात् कहा, "सदाचार के प्रचार के लिए वताइए क्या किया जाना चाहिए ?"

"सदाचार ?—की समितिया वन तो रही है । काम भी तेजी से हो रहा है । तुम्हे उसमे लग जाना चाहिए ।"

"लेकिन, आप—"

"हा, हा, कहो । मैं क्या ?"

"आपका उसमे योग चाहिए ।"

"योग है क्यो नही । अवश्य है, अच्छे काम मे भगवान का योग होता है । फिर सवाल क्या ?"

"हम आपको अपने साथ समझ सकते है ? समिति मे ले सकते हैं ?"

"साथ मैं क्यो नही हू । लेकिन समिति—उसको जाने दो ।"

"समिति तो कार्य को स्वरूप देने के लिए है ।"

"हा, हा, वह तो है ।" शर्मा जी ने कहा—और मुझे ऐसे देखा जैसे देखना अव आरम्भ कर रहे हो ।

कुछ क्षण उस निगाह के नीचे मैं अस्तप्राय-सा वैठा रहा । फिर हठात् कहा, "तो आपकी अनुमति हम मान सकते है ?"

उन्होने उत्तर नही दिया । चेहरे पर कुछ काठिन्य झलक आया । लेकिन हठपूर्वक मानो हसते हुए वोले, "तुम्हे उसकी वहुत चिन्ता है ? तुम तो जवान हो, वड़े लोग चिन्ता कर ही रहे हैं । देश की वातें उन पर छोड दो ।"

"लेकिन, सर, यह देश की वात नही है, जनता की वात है । जन-जन की वात है ।"

हंसकर बोले, "हां, हां, जन-जन की बात है। बोलो, क्या लोगे? लस्सी ले सकोगे? या कोकाकोला ही चाहिए?"

"जी नहीं, कृपा है। लेकिन—"

"देखो बेटे, देश नेता लोग सो नहीं रहे हैं। वे जगे हुए हैं और तत्पर हैं। ऐसे में बहुत ज्यादे जिम्मेदारी औरों को अपनी नहीं माननी चाहिए। समझे न? समितियां हैं, और काम के लिए तुम जवान लोग हो। फिर क्या चाहिए? नेता हैं जो कटिबद्ध हैं, कार्यकर्त्ता हैं जो तुम जैसे परायण हैं। मैं—बहुत अधिक व्यस्त हूं, मेरे लिए काम रोको नहीं, चले चलो।"

मैंने मन में अपना माथा ठोका। यही वस्तु है जो हमारी अवनति के मूल में है। यह असलग्नता और तटस्थता। जैसे जो है, दूसरे पर है। आप बस साक्षी हैं और द्रष्टा हैं। असंतोष में कहा—"नागरिक आप भी हैं और हर नागरिक का दायित्व है—" शर्मा जी का चेहरा कठोर होता दिखाई दिया। वह खड़े हुए और कहा—बैठो मैं अभी आया।

कहकर वह चले गए और मैं कटा हुआ सा सूने उस बरामदे में अपने रोष को लेकर एकाएक अकेला बैठा रह गया। बहुत विचित्र मालूम हुआ उनका व्यवहार और तर्क का तार जिस जगह टूटा था उसके प्रतिवाद का जोश मुझमें उफना आ रहा था।

आये तो उनके हाथ में लस्सी का गिलास था। कहा—"लो, पियो। गर्मी है, ठंडक आयेगी।"

गिलास हाथ में लिया और मैंने बराबर तख्त पर रख दिया। कहा—"कहिए, मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

"अरे भई, पहले पियो तो।"

"आपने वृथा यह कष्ट किया!"

"देखो न कितनी गर्मी है और यहां पंखा भी नहीं है। माफ करना, बर्फ घर में नहीं है और लस्सी शायद काफी ठंडी न हो। पियो, पियो, शर्माओ मत। तुम्हारा ही घर है।"

उपाय न था और मन ही मन मैं झल्ला रहा था कि किस जगह आकर फसा। लेकिन मिस्टर वर्मा से मुझे मिलना था और मै अवश्य चाहता था कि एच० एम० से जो बात निकली है, उसकी पूर्ति मे मैं किसी न किसी तरह काम आऊ, जिससे वहा तक मेरी रसाई हो सके। गिलास लेकर मैं सिप करता जाता था और शर्मा जी की ओर इस प्रत्याशा से देखता जाता था कि वह पिघलेंगे और मेरा काम पूरा हो जाएगा। लेकिन मालूम होता था, लस्सी के गिलास से बाहर किसी देश और सदाचार की उन्हे चिन्ता नही है और उनका मानस घिरा और सिमटा है।

पर तौवह, उस ढीम गिलास के आधे तक आने मे मेरी सामर्थ समाप्त हो गई और गिलास को मैने एक तरफ कर देना चाहा।

शर्मा जी बोले—"अरे भई, जवान हो। यह क्या, पूरा पी डालो।" लेकिन वह किसी तरह सभव न हुआ, और मैं लज्जित हो आया और शर्मा जी ने कृपा की और मैंने अन्तिम बार कहा कि बताया जाय कि समिति मे होने की अनुमति मैं प्राप्त मान सकता हू कि नही ?

शर्मा जी के चेहरे की कठोरता एकाएक बेहद उघर आई। बोले—"तुम जवान हो, साफ कहो, किसने तुम्हें भेजा है ?"

मैं घबराया। बोला—"भेजा ! जी नही—"

"समिति तुम नही बनाये हो, नही बना सकते हो। यह काम राज्य के मत्री से शुरू हुआ है। सचमुच काम भी उन्ही का है। सदाचार कानून से चलेगा और बनेगा। जैसे दुराचार स्वभाव हो आदमी का ! तुम्हारे कधे क्यो फालतू हैं कि उस बोझ को ढोते हो। बडी ताकत है कानून के पास। क्यो उसका भरोसा नही करते हो और उसमे दखल देने पहुचते हो ? फिर कहने आते हो, वैसी बेवकूफी मैं करू 'सच बोलो, किसने भेजा है ?"

"जी नही।"

मेरी मुद्रा शायद इसी योग्य हो आई होगी। शर्मा जी मुझ देखकर

हमे। बोले—"अच्छा अच्छा, किसी ने न भेजा सही। पर भाई सदाचार के लायक तो मैं हू नही। सिर्फ तीन सौ रुपये मेरी आय है, सोचने की बात है कि तीन हजार मासिक आय से पहले सदाचार क्या शुरू भी हो सकता है?"

मै तो भौचक्क होकर शर्मा जी की ओर देखने लगा। वह कहने के अनन्तर कुछ हस आये और वह हसी बहुत निर्मल मालूम होती थी। लेकिन देखते देखते वह चेहरा कस आया और मानो उन्होने डपट के साथ मुझे देखा। बोले—"तुम यहा आये हो, सदाचार के बारे मे पूछते हो। तुम्हे बैठने को कुर्सी नही मिली। गर्मी मे हवा का पखा नही मिला। लस्सी मे बर्फ नही मिल सका। मैं पूछता हू, यह सदाचार है? जितनी देर तुम्हारे साथ बैठा रहा हू, लगता रहा है कि मैं यथायोग्य तुम्हारा सत्कार भी जो नही कर पा रहा हू, सो दुराचार कर रहा हू। आमदनी होती तो मैं तुम्हे सोफा पर बिठा सकता था और तुम्हारी खातिर जरा तरीके से कर सकता था' समझे? सदाचार पैसे से होता है, इसलिए पैसे के लिए जो किया जाता है, उसे दुराचार मानना इकतरफा है'''भ्रष्टाचार तुम लोग किसको कहते हो? मेरा यह आचार भ्रष्ट क्यो नही है कि मैं जी खोल कर स्वागत सत्कार भी नही कर सकता। क्यो मैं दबा और सिमटा रहता हू! खर्च कम करने की फिक्र मे रहना क्या कभी सदाचार हो सकता है? इसलिए गलती करते हो, अगर सदाचार मे मुझे आगे करना चाहते हो। मिनिस्टर लोग, अफसर लोग हैं, जिनको हक है कि सदाचार करें और कराए। 'तुमको किसी ने भेजा नही है, खुद आये हो। मुझे यकीन नही करना चाहिए इस बात का। तुमने पालिटिक्स मे एम० ए० किया है। तुम ऊचा देख सकते हो, मैं जानता हू कि ऐसी भूल तुम्हारे बस की नही हो सकती। समझदारी का रास्ता वह नही है। लेकिन लोग है जो राज भी चाहते हैं और सदाचार भी चाहते हैं। दोनो चाहे अपनी जगह नही है'''उनसे जाकर कहना, अगर इशारा तुम्हे वहा से मिला है, कि शर्मा की आमदनी जिस

रोज वे तीन हजार मासिक की बना देगे, उस रोज से वह अवश्य सदाचार शुरू कर देगा । और जिस समिति मे कहो, होने की योग्यता पा जाएगा । फिर अनुमति का सवाल नही रह जायेगा । बल्कि समितियो पर होने की आतुरता उसमे होने लग जाएगी । ··· ऐसे न देखो, जैसे मैं बात अनोखी कह रहा हू । बताओ तुम्हारी आमदनी कितनी है ? —बताओ भी ।"

"जी ?"

"अरे भई, मैं इन्कमटैक्स का आदमी नही हू ।"

"जी ·जी नही ।"

"छोडो छोडो, मैं देख सकता हू कि तुमने अपने लिए सदाचार का काम जो चुना है सो ठीक चुना है । आमदनी तुम्हारी ठीक ठाक लगती है। इसलिये तुम्हारा चुनाव भी ठीक है। लेकिन अगर आमदनी ठीक नही हो तो फिर उसको ऊची और काफी बनाने के लिए भी उस कार्यक्रम का चुनाव मुनासिब समझा जाएगा । यानी तुमको देखना चाहिए कि हर तरफ से सदाचार का सम्बन्ध समीचीन आय से हो जाता है ।· "

मैं शर्मा जी को अविश्वास की निगाह से देखता रह गया ।

कहते कहते वह खडे हो आये । मानो उन्होने पहचान लिया कि मैं चला जाना चाहता हू और मानो वह भी अपनी ओर से विदा के लिए तत्पर है ।

उन्होने कहा—"लेकिन सदाचार के साथ दुराचार भी आमदनी को बढाने चढाने की कोशिश मे होता बताया जाता है ।···मेरे भाई, यही मुश्किल है । माफ करना, तुम्हे मैं कोई सीधा जवाब नही दे सकता । सदाचार बिना बढी-चढी आय के हो नही सकता । बढी-चढी आय के लिए ही फिर दुराचार किया जाता मालूम होता है । इसलिए मैं तो चक्कर मे हू । लेकिन तुम लोगो के प्रयत्नो की सफलता चाहता हू ।"

मैं खुद चक्कर मे हो आया। खडा हुआ तो सचमुच जैसे घिरनी आ गई । मैं कुछ बोल नही पाया । ठीक तरह विदा का अभिवादन भी नही

कर सका।

शर्मा जी ने शायद मेरी हालत देख ली हो, उन्होंने मुझे गले से लगाया फिर अलग करते हुए कधे पर थपथपाकर कहा—"हम जैसे भटके लोगो की चिन्ता न करना। जवान हो, और अपने सेवा के कामों मे दत्त-चित्त होकर बढते रहना और यशस्वी होना।"

—इसी से कहता हू, मैं चक्कर मे हू, बडे चक्कर मे हू और कष्ट ये है कि चक्कर सदाचार मे से बन गया है।

जुलाई '६५

विक्षेप

दिल्ली विश्वविद्यालय के नये कान्वोकेशन हाल मे जल्सा जारी था। एक व्यक्ति सीधा चलता हुआ आया। देह पर सिर्फ कोपीन और हाथो मे कुछ अटर-सटर। मच थी तक आकर वह आराम से वैठ गया और हाथ की चीजो को एक पर एक चिनकर सामने अपने एक स्तूप का निर्माण कर लिया। सकेत हुआ कि उसे उठा दिया जाय। पर प्रगट हुआ कि चलती हुई सभा का ध्यान ऐसे और भी अधिक उसकी ओर आकृष्ट होगा और उससे विघ्न अधिक ही वढेगा। किन्तु वक्ता वोलना समाप्त करके, से हटकर गये तो यह महाशय वढकर वहा अपना ववतव्य देने आ पहुचे। पहुचते थे कि इधर-उधर से दो-चार प्राध्यापक लपके और एक ने तो उन महाशय की गर्दन ही जा धरी। इस भाति हाल से उनको वाहर किया गया। सवने माना, वह विक्षिप्त थे। क्या कहानी के लिए भी यह मानना आवश्यक है ?

*　　　　*　　　　*

अहा-हा! क्या माया है! उस्ताद, मानता हू तुझे। हम परमात्मा है, लेकिन मान लिया कि तू भी है। क्या आसमान से पानी वरसता है—धार की धार, धार की धार! लेकिन तू समझता होगा कि सव किसी को भिगो देगा? पर हम भी हैं कि देख तो भिगो के! ले साली, यही तो भीगेगी! [और एक झपाटे मे उसने कोपीन खोलकर वरसते पानी मे आसमान मे फहराई और फिर उसको मुट्ठी मे वाध लिया।] अव वता, तू हमे कैसे भिगोयेगा? वह तो मुट्ठी मे है, जो भीग सक्ती थी! हम हैं तेरे सामने, कर ले जो तेरे वस मे हो। एक वूद पानी नहीं छू सकता। वरन ले जितना चाहे और वरसा ले तू जितना चाहे! हमारे बदन पर

गिर के ग्रासू की तरह ग्राप ही ढरता जाएगा सव । ग्रपने को क्या, ग्रपन सूखे-के-सूखे !

वारिश होते-होते कम हुई ग्रौर फिर थम गई । महाशय उस वक्त सडक पर थे । सडक सूनसान थी । वारिश रुकी तो महाशय ठट्ठा मार कर हसे ।

···ग्रव वोल ! देखा कि नही ? यह है इस हम परमेश्वर का करतव ! ले खोलता हू । यह रही जो भीग सकती थी । पर तुझ से तो इसका भी कुछ न विगडा ! ग्रा, वेटी ग्रा जा ! ग्रपनी जगह ग्राराम से हो जा !

महाशय ने कोपीन को यथास्थान वाध लिया । चलते-चलते देखा कि वाई तरफ दरवाजा है ग्रौर सडक साफ है । सामने भी सडक है, सडक वाई तरफ भी है । पीठ की तरफ मुडकर देखा कि सडक पीछे भी है । ऊपर ग्रासमान की तरफ देखा कि सडक उधर भी हो सकती है । भई, वाह ! उन्होने सिरके वढे हुए वालो मे हाथ फेरा । ठोढी पर वढती हुई दाढी पर भी हाथ सहलाया ग्रौर सोचा, सोचने की ग्राव-श्यकता थी ! देखो न, जिधर देखो, सडक ही सडक ! ऐसे समय विचार ही काम दे सकता है । इधर से तो हम चलकर ग्रा रहे है ! ग्रव रही तीन तरफ ! सामने, दायें, वाये ! ऊपर की वात छोड दो । हम सीधे ग्रास-मान की तरफ सडक वनाते हुए जा सकते है, पर उधर ऊपर साला परमात्मा रहता है । दो परमात्मा कैसे रह सकते हैं ? इसलिए हम ऊपर नही जाएगे । ऊपर वाला टगा रहे चाहे तो ऊपर ही ! क्या करेगा ? पानी वरसा देगा ! धूप फेंक देगा ! विजली गिरा देगा ! पर इसमे हमारा वह क्या कर सकता है ? देखो, हम हैं कि सामने जाए, चाहे दाए जाए, चाहे वाए जाए । वह तो वैठा है ग्रधर मे जहा का तहा ! हम हैं कि चल रहे हैं । मरजी है कि नही भी चलें ! या चाहे इधर चलें, चाहे उधर चलें, चाहे किधर भी चलें !

पर नही, दाये नही, वायें ! दायें तो दक्षिण होता है । दक्षिण मे

सिर्फ दक्षिणा हो सकती है। वाम मे होती है वामाग्नी कहो, कैसे रहे ? अहा हा-हा। इसीलिए देख लो, बाई तरफ ही दरवाजा है ! द्वार से होता है द्वाराचार ! चलो भई, द्वाराचार देखे !

वाह भई ! मानना होगा लोगो को ! जभी तो विश्वविद्यालय कहते है ! क्या खूब बनाई है इमारत ! कितना पैसा लगा होगा ? बडा पैसा लगा होगा ! पैसा साला बहुत लगता है। जाने यह पैसा कहा रहता है ? हमको तो दीखती नही जगह ? पर है साले मे करामात ! इधर दो, उधर जलेबी का दोना तुम्हारे हाथ मे ! और वह जलेबी वाला बनाता ही है, खाता नही है, न घर ले जाता है ! पैसा दो और जलेबी ले लो। या और चाहे कुछ तो वह ले लो। पर हम परमात्मा को पैसा क्या करेगा ? जलेबीवाला आज हमको जलेबी नही दिया । बोलता, पैसा लाओ ! हम हस दिया। हमने का बात है कि नही ? जलेबी वह खाता नही है और पैसा मागता है ! पर पहचानता नही हम परमात्मा हैं। क्या पैसा, क्या जलेबी ! हम सबको लात मार सकता है !

विश्वविद्यालय ! यहा लोग विद्या पढते हैं । पढकर विद्या को पढाता है। पढा कर क्या करता है ? पैसा पाता है, पैसा हाथ से देकर जलेबी पाता है। जलेबी खा के फिर पढाने आ जाता है। पढा के पैसा लेके फिर खाता-पीता-पहनता है। एई हो विद्या का चक्कर।

अलबत चक्कर ! हम खायेगा, काहे कि खाना स्वाद लगता है ! पर उसके वास्ते करेगा काहे को ! खाने के वास्ते पढायेगा, पढा के पैसा पा के खायेगा। हम मुफ्त पढायेगा ! मुफ्त खायेगा। जिन्दगी हमारी है और आजाद है और मुफत ! एकदम मुफत !

ओ-हो-हो ! यह बारिश फिर होना मागता है । बादल काला हो गया है। ऊपर घूमता है। हम नही भीगा, पर बाल काला है और साला वह भीग जाता है। (और उसने सिर के बालो को दबाकर हाथ मे सूता।) इस बार यह नही होएगा। हम एक दम नही भीगेगा, बाल भी नहीं भीगेगा। कुछ भी नही भीगेगा। और महाशय ने कान्वोकेशन हाल

गिर के आसू की तरह आप ही ढरता जाएगा सब । अपने को क्या, अपन सूखे-के सूखे !

बारिश होते-होते कम हुई और फिर थम गई । महाशय उस वक्त सडक पर थे । सड़क सूनसान थी । बारिश रुकी तो महाशय ठट्ठा मार कर हसे ।

...अब बोल ! देखा कि नही ? यह है इस हम परमेश्वर का करतब ! ले खोलता हू । यह रही जो भीग सकती थी । पर तुझ से तो इसका भी कुछ न बिगड़ा ! आ, बेटी आ जा ! अपनी जगह आराम से हो जा !

महाशय ने कोपीन को यथास्थान बाध लिया । चलते-चलते देखा कि बाई तरफ दरवाजा है और सडक साफ है । सामने भी सडक है, सडक बाई तरफ भी है । पीठ की तरफ मुडकर देखा कि सडक पीछे भी है । ऊपर आसमान की तरफ देखा कि सडक उधर भी हो सकती है । भई, वाह ! उन्होने सिरके बढे हुए बालो मे हाथ फेरा । ठोढी पर बढती हुई दाढी पर भी हाथ सहलाया और सोचा, सोचने की आवश्यकता थी ! देखो न, जिधर देखो, सडक ही सडक ! ऐसे समय विचार ही काम दे सकता है । इधर से तो हम चलकर आ रहे है ! अब रही तीन तरफ ! सामने, दाये, बायें ! ऊपर की बात छोड दो । हम सीधे आसमान की तरफ सडक बनाते हुए जा सकते है, पर उधर ऊपर साला परमात्मा रहता है । दो परमात्मा कैसे रह सकते है ? इसलिए हम ऊपर नही जाएगे । ऊपर वाला टगा रहे चाहे तो ऊपर ही ! क्या करेगा ? पानी बरसा देगा ! धूप फेंक देगा ! बिजली गिरा देगा ! पर इसमे हमारा वह क्या कर सकता है ? देखो, हम हैं कि सामने जाए, चाहे दाए जाए, चाहे बाए जाए । वह तो बैठा है अधर मे जहा का तहा ! हम हैं कि चल रहे हैं । मरजी है कि नही भी चलें ! या चाहे इधर चलें, चाहे उधर चलें, चाहे किधर भी चलें !

पर नही, दायें नही, बायें ! दायें तो दक्षिण होना है । दक्षिण मे

सिर्फ दक्षिणा हो सकती है। वाम मे होती है वामाग्नी कहो, कैसे रहे ? अहा हा-हा। इसीलिए देख लो, बाई तरफ ही दरवाजा है। द्वार से होता है द्वाराचार। चलो भई, द्वाराचार देखें।

वाह भई! मानना होगा लोगो को! जभी तो विश्वविद्यालय कहते है! क्या खूब बनाई है इमारत! कितना पैसा लगा होगा ? बडा पैसा लगा होगा! पैसा साला बहुत लगता है। जाने यह पैसा कहा रहता है ? हमको तो दीखती नही जगह ? पर है साले मे करामात! इधर दो, उधर जलेबी का दोना तुम्हारे हाथ मे! और वह जलेबी वाला बनाता ही है, खाता नही है, न घर ले जाता है! पैसा दो और जलेबी ले लो। या और चाहे कुछ तो वह ले लो। पर हम परमात्मा को पैसा क्या करेगा ? जलेबीवाला आज हमको जलेबी नही दिया। बोलता, पैसा लाओ! हम हस दिया। हसने का बात है कि नही ? जलेबी वह खाता नही है और पैसा मागता है! पर पहचानता नही हम परमात्मा है। क्या पैसा, क्या जलेबी! हम सबको लात मार सकता है!

विश्वविद्यालय! यहा लोग विद्या पढते है। पढकर विद्या को पढाता है। पढा कर क्या करता है ? पैसा पाता है, पैसा हाथ से देकर जलेबी पाता है। जलेबी खा के फिर पढाने आ जाता है। पढा के पैसा लेके फिर खाता-पीता-पहनता है। एई ढो विछा का चक्कर।

अलबत चक्कर! हम खायेगा, काहे कि खाना स्वाद लगता है! पर उसके वास्ते करेगा काहे को! खाने के वास्ते पढायेगा, पढा के पैसा पा के खायेगा। हम मुफ्त पढायेगा! मुफ्त खायेगा। जिन्दगी हमारी है और आजाद है और मुफ्त! एकदम मुफ्त!

ओ-हो-हो! यह बारिश फिर होना मागता है। बादल काला हो गया है। ऊपर घूमता है। हम नही भीगा, पर बाल काला है और साला वह भीग जाता है। (और उसने सिर के बालो को दबाकर हाथ से सूता।) इस बार यह नही होएगा। हम एक दम नही भीगेगा, बाल भी नहीं भीगेगा। कुछ भी नही भीगेगा। और महाशय ने कान्वोकेशन हाल

के पोर्च मे दौडकर दाखिल हो जाते है।

ले भाई, ठीक है। अब बरस ले, जितना जी चाहे! वाह उस्ताद परमात्मा, तू भी पानी का बडा भण्डार जमा करके रखता है! हम पढते थे, मानसून है और पानी का भाप बनता है, उसमे से बादल बनता है और समन्दर के किनारे से उडते-उडते जहा-तहा पहुचकर वापिस पानी बरसाने लग जाता है। यह विग्गान है। हम विज्ञान पढे थे और विद्यालय मे विज्ञान पढाया जाता है। ऊचा विज्ञान, तरह-तरह का विज्ञान! पर हम हसता है और परमात्मा हसता है। और वह पानी बरसाता है। हमारे पास पानी करने का बडा सामान नही है। नही तो हम भी हसी को पानी बना के बरसा देना! तो हम अब हसी को ही सीधा बरसाता है। काहे कि लोग विज्ञान की बात करता है। पानी को पानी नही बोलता है, कुछ और बोलता है। हाइड्रोजन आक्सीजन बोलता है! काम की बात को बेकाम बना के विज्ञान बोलता है। पानी का प्यास लगता है, और हम पानी पी लेता है। तुम भी पी लेता है। सब लोग पी लेता है, पर विज्ञानी पीता नही है। विश्लेषण करता है। विश्लेषण से पानी को उडा के कुछ और बना देता है। कहता है यह नही है, वह है। और वह वह नही है, यह है। आदमी आदमी नही है, तत्व है। और तत्व आत्मा है और आत्मा हम तुम नही हैं, पार है! ठीक है, पार है। हम आत्मा है, हम परमात्मा है, हम विज्ञान हैं!

महाशय ने पो के बाहर देखा। पानी पड़ रहा था। सामने देखा पानी पड रहा था। मुडकर पीछे देखा, पानी पड रहा था। लेकिन बाई तरफ पानी नही था, सीढिया थी। सीढियो के बाद बरामदा था। बरामदे के बाद फिर सीढिया थी और तब दरवाजा आता था।

महाशय ने उस सब स्थान को गौर से देखा जो ढका था और जहा पानी नही पड रहा था। मालूम हुआ कि यह अनोखा घटना है। पानी तीन तरफ है, एक तरफ नही है। और जिधर नही है, उधर आसमान भी नही है। वहा दीवारें हैं और ऊपर छत है। दिशाए उससे

रुक गई हैं और आकाश खतम हो गया है। महाशय को यह सचमुच ही बहुत विलक्षण मालूम हुआ। दिशा अनन्त हैं, और आकाश सर्वव्यापी है। लेकिन ठोस ईंट के जोर से अनत खतम हो जाएगा, और सब कही होने वाला आकाश वाहर ही रोक कर खडा कर दिया जायेगा।

और वहा फिर क्या होगा? विद्या होगी और उसका आलय होगा। विश्वभर की विद्या को लाया जाएगा और दिया जाएगा। विश्व विद्यालय। कारण कि विद्या अनत मे उड न जाए। और घिर के वन्द व सुरक्षित रहेगा।

उसने सव तरफ देखा। वह अब पहली सीढियो से चढकर ऊपर आ गया था। आखो से देखा, फिर पास जाकर दीवार पर हाथ लगाकर देखा। ठीक है, और मजवूत है। हवा आर-पार नही जा सकती है। उसे अनुमान न हुआ, दीवार कितनी घनी होगी। उगली मोडकर उसके कोने मे उसने दीवार को ठकठकाया। ठक-ठक को फिर कान पास लाकर सुना। उसने अपने को पूरा विश्वास दिला लिया कि दीवार पोली नही है, वल्कि खासी मोटी है। उसने ऊपर छत की ओर देखा। जैसे उसने कोशिश की कि इस छत को भेद कर उसकी निगाह पार जा सके। वह देर तक इस तरह देखता रहा। छत ज्यो की त्यो रही और उस निगाह को अपने मे पीती समाती चली गई। मालूम हुआ कि वहा कुछ भी जुम्बिश नही हुई और छत ऐसे टिकी है जैसे अतिम और परमसत्य वही हो। उसको एक क्षण के लिए अपने वारे मे सशय हुआ। यह कि क्या वह परमात्मा नही है? छत अपनी जगह से उड नही रही थी। मानो उसके दर्शन को रोकने को अडी हो। पर उसका दर्शन परम है, अवाध है। वाधा कही हो नही सकता। इसी से वह परमात्मा है। लेकिन निगाह से छत उडी नही, नही उडी, तव वह हसा! उसकी मुस्कराहट परम उत्तीर्ण थी। जैसे मानो वह कृपा कर रहा हो। फिर उसने ऊपर को मुह किया और छत की तरफ फूक छोडी। सचमुच फूक से छत वह उड गई। एकदम उड गई और दिक्-काला-आकाश सव

एकदम खुल आए और तब मानो विजय गर्व मे वह आगे बढ़ा।

सभा शुरू हुए समय हो चुका था। अब चौकसी की आवश्यकता न थी। इसलिए हाल के दरवाजे पर कोई न था। लोग सब मच पर होती हुई कार्रवाई देखने और सुनने, सुनने से अधिक देखने और देखने से अधिक सुनने, मे तल्लीन थे।

महाशय वह द्वार पर ठिठके। एक निगाह मे सब कुछ को उसने समेटा। दूर, नीचे किन्तु ऊपर, मच था, जहा पाच-सात कुर्सियो पर पाच-सात लोग बैठे हुए थे। बराबर मे एक पुरुष खडे हुए बोल रहे थे। बाकी नीचे कुर्सियो मे बैठे थे। उनकी पीठ महाशय की तरफ थी और मुह मच की तरफ था। उसने ऐसे देखा, जैसे दिक्कालजयी हो। रास्ता सामने निर्बाध था। बल्कि बनात-बिछा था। वहाँ परे कुछ कहा जा रहा था और सुना जा रहा था। लेकिन उसके कानो मे कुछ नही पडा। उसे लगा कि बस प्रतीक्षा है। बेशक उसी की प्रतीक्षा है। उसने अपने हाथ की साफी को झाडा। दूसरे सामान को भी इस हाथ से उस हाथ किया। सामान मे कागज के गत्ते का बना हुआ एक डिब्बा सा था जिससे भोपू का काम लिया जा सकता था। फटी पुरानी जर्जरनुमा एकाध किताब थी। पास मे सरकडे की मानो एक पेन्सिल थी। यह सब कुछ पहले बायें से उसने दाहिने हाथ किया, और दाहिने से फिर बायें हाथ। शायद उसे सन्देश देना था और इस प्रकार वह उसी की तैयारी कर रहा था। उसने फिर एक बार चारो ओर आख घुमाकर देखा। जैसे अपने को और अवसर को तोला। मानो उसने उस थोडे समय मे भरपूर भर लिया। भर लिया कृपा से जो उसके अन्दर यहा इस प्रकार नितान्त ग्रहणशील भाव मे बैठे हुए लोगो के लिए उसमे उदय हो आई थी। एक गहन अगाध अनुकम्पा कि बिचारे मूर्ख हैं कि यहा बैठे हैं। बाहर आकाश है और वर्षा है और अनन्त है और शून्य है। यहा दबे-लिपटे बैठे हैं। बाहर आते तो देखते कि भीगा कैसे जाता है। और देखते कि भीगने से बच कौन सकता है। कोई नही बच सकता। उस परमात्मा की वर्षा

से वस यह हम परमात्मा ही वच सकता है, जो सव कुछ है, और जिसे कुछ नही छूता है। हा, हम, हम, हम।

हाल मे दोनो तरफ कुर्सिया लगी हुई थी और वीच मे से मार्ग छूटा था जो मच तक जाता था। मानो सव कुछ का निरीक्षण करने के वाद, उसके मन मे अपना कर्त्तव्य स्पप्ट हो चुका था। वह विन्दु स्पष्ट हो चुका था, कि जहा पहुचना और जमना है। जहा कुछ देर अपने को समाहित करने के वाद परम दया मे इन विखरे और भूले हुओ को अपना सन्देश देना है। मुक्तिदायी और परम हितकारी सन्देश! सन्देश कि ए पढे-लिखे लोगो, मूर्ख वने यहा क्यो वैठे हो? लो, यह मै आता हू। सुनो, और वस यहा से भाग जाओ।

वीच के मार्ग मे से मानो ध्यानस्थ और अवध्यानस्थ वह वढा और वढता हुआ चला गया। एकाग्र, एकनिप्ठ। पता तव चला जवकि ठीक मच के समक्ष वह खडा हुआ और उसने क्रमश सामने देखा, दायें देखा, वायें देखा। अध्यक्ष के सामने मेज थी और उस पर गुल-दस्ता था और घडी थी और पहनाए गए पुष्प हारो का ढेर सा था। उस सवके वीच मे आ जाने से अध्यक्ष को वह मूर्ति दिखाई न दी। पर व्यवस्थापको का ध्यान गया और श्रोताओ ने भी इस निस्सग-निर्ग्रंथ पुरुप को देखा। किन्तु अव तक वह स्थिति का पारायण पूर्ण कर चुका था और आसन मार के वही वैठ भी गया था। आसन पद्मासन नही था, और थोडी देर मे ही उसे मालूम हो गया कि वह तो पद्मासन ही चाहिये। तनिक उठकर झाडे गए झाडन को उसने अपने नीचे लिया और दिव्य-भाव के साथ वह पद्मासन लगाकर वैठ गया। तव उस गत्ते के भोपू को उसने अपने समक्ष मानस्तभ की भाति टिकाया और उस पर विश्व कोप रूप वह जत्री प्रतिस्थापित की। फिर अभिपेकपूर्वक वहा सरकडे के कलम को प्रस्थापित किया। मानो ज्ञान के सुमेरु की ही उसने इस प्रकार रचना कर ली। फिर दृप्टि को नासाग्र करके मन ही मन उसने कुछ उच्चारण करना आरम्भ किया। ओठ अवश्य

उसमे बुदबुदा जाते थे किन्तु ध्वनि बाहर नही आती थी। कुछ क्षण उपरान्त उसने उस ज्ञान के सुमेरु को शीश नवाकर नमस्कार किया। अनन्तर अब तक अर्ध-निमिलित अपने नेत्रो को सर्वथा ही निमिलित करके वह ध्यानमग्न हो रहा।

व्यवस्थापक ने सकेत किया। दो ओर से दो व्यक्ति बढे। एक निकट ही आ गया और मानो उस व्यक्ति ने इन ध्यानस्थ योगी को कन्धे पर तनिक छुआ। योगी ने बाया हाथ तनिक हिला दिया। जैसे कि योग मे विघ्न डालने मे वर्जित किया हो। आख उसने नही खोली और बायें हाथ की झिडकी का वह सकेत ही मानो भरपूर पर्याप्त हुआ। दूसरी दिशा से आता हुआ व्यक्ति इन व्यापार पर अपने स्थान पर रुका रह गया और पहले व्यक्ति ने देखा कि कार्य कुछ कठिन है। वह असमजस मे हुआ। उसने करुणभाव से निगाह उठाकर व्यवस्थापकाध्यक्ष से आगे के लिए वे फर्मान मागा। सकेत हुआ कि छोडो, छेडने की आवश्यकता नही है। और वे स्वय सेवक दोनो फिर जैसे के तैसे अपनी-अपनी दिशा मे लौट गए।

आखें अब खुल आई थी। वह देख रहा था। देख रहा था कि लोग पीछे बैठे है और पाच-सात जने सामने भी बैठे हैं। एक कुछ खडे होकर यत्र मे कह रहे हैं और सब सुन रहे हैं। क्या कहा जा रहा है और क्या सुना जा रहा है? क्यो इन्हे इतना भ्रम है कि बैठे है और सुन रहे हैं। सुनना है तो हमे सुने। या फिर कुछ योग ही करें। और उसकी अपनी तरह अनढके क्यो नहीं बैठते? ऐसे बेकार ओढ़ पहने और लिपटे क्यो बैठे हैं? और सामने ज्ञान स्तूप बनाकर क्यो नही बैठते कि जैसे मैं बैठा हू।

और क्या सब बच्चे हैं? पागल हैं? इतना नही समझते कि मैं बैठा हू। ढग से तो व्यवहार करें!

एँ, यह हो क्या रहा है? शायद सभा हो रही है। ठीक है कि सभा हो रही है। पर क्यों हो रही है सभा? कुछ और क्यो नहीं हो

रहा है। पागल है कि देखो कि करने को बस सभा ही कर पाते हैं। और यह कौन है कि जो बीच मे बैठा है। आखो पर चश्मा हैं और चमकती चाद है। कैसा बैठा है कि हस तक नही रहा है। लगता है कि हस ही नही सकता है। जैसे आटे का न हुआ ज्ञान का ही पिंड हो। जान की जगह उसके अन्दर कुछ वह हो जो जड पडकर सिल हो गयी हो।

एकाएक अट्टहास हुआ। लोग चौंके। सबका ध्यान उधर गया जिधर जाना था। लेकिन जोर के ठहाके के बाद वह आख मीचकर अपने सामने के सुमेरु के आगे हाथ जोड कर नमन करने लगा था। बराबर से स्वयसेवक फिर लपकने को हुआ। पर व्यवस्थापक की ओर से सकेत हो गया कि जाने दो, जाने दो।

सब शान्त था और उसकी आखें खुल आई थी। उसने देखा कि वक्ता हाथ जोड रहा है। अपनी जगह से उसने हाथ जोडे। तभी सुनाई दिया कि तालिया बज रही है। उसने भी ताली बजाई। लेकिन एका-एक क्या देखता है कि यत्र के सामने का स्थान खाली है। बोलने वाला लौट गया है और तालिया पीछे से बजी जा रही हैं।

ठीक है। ठीक यही अवसर है। सबको इसी की प्रतीक्षा है। पागल हैं तो भी मेरी अपेक्षा मे है। बच्चे हैं और उन पर दया करने को चलना होगा। कुछ कहना होगा। कहना होगा और बताना होगा। बताना होगा कि वह सब नही है कि जो है। प्रमच है वह सब जो तुम करते रहे हो और करते रहते हो। देखो, यह मैं आता हू और बताता हू। बताता हू कि· ··

वह अपनी जगह से उठा। अपने नीचे की साफी उठाई, फिर समझ कर उसने उसे वही छोड दिया। अब वह गिनती की सीडिया चढता हुआ मच पर पहुचा। पहुचा, पहुचा कि गर्दन पर उसके एक कसा हाथ पडा। गर्दन दबोच ली गई थी और उसे ठेल कर बरबस एक ओर ले जाया जा रहा था। गरदनिया वाला हाथ चाहे एक ही रहा हो,

पर अनेक जन और थें ।

उसमे हुआ कि हाय, ये नही जानते है ! हुआ कि मैं इन्हे क्षमा करता हू । और तब ऊपर वाले परमात्मा से भी उसने कहा कि सुन, तू भी इन्हे क्षमा कर देना । बेचारे है और पागल हैं । हम-तुम जैसे परमात्माओ को पहचान नही सकते है !

अगस्त '६५.

मुक्ति ?

प्रश्न था कि क्या स्त्री को मुक्ति मिल सकती है ?

चर्चा मे तीन व्यक्ति थे। श्री शाडिल्य, उनकी पत्नी मनोरमा और आगत अतिथि श्री आर० नारायण।

शाडिल्य व्यस्त वकील थे, अब उससे अधिक चिंतक हैं। मनोरमा ने घर को सम्पन्न और सुव्यवस्थित पाकर अपने समय को खाली बैठे लिखने मे लगाया और देखते देखते साहित्य मे अपना स्थान बना लिया हैं। आर० नारायण आरम्भ मे मुवक्किल के तौर पर मिले, पर धीरे-धीरे वह परिवार के मित्र बन गए है। ऊचा उनका व्यवसाय है और तात्विक विषयो मे बुद्धि द्वारा रस लेने का उन्हे चाव है।

आर० नारायण का दृढ मत है कि स्त्री को वह सब प्राप्त हो सकता है, जो पुरुष को। उसकी क्षमता कम नही है किसी अर्थ मे, हा, अधिक अवश्य मानी जा सकती है।

शाडिल्य सहमत होने को तैयार हैं। लेकिन प्रश्न को व्यर्थ मानते हैं। क्योकि वह मुक्ति को मान भी ले तो समझ नही पाते हैं।

मनोरमा का विश्वास है कि स्त्री मुक्ति नही पा सकती। पा सकती होती तो उसके लिए माता बनने का विधान न होता। शरीर से वह ऐसी बनी है कि मुक्त होने की नही सोच सकती है। कारण, उसे सफल होना है। उसका भी कारण कि सृष्टि को चलते रहना है।

नारायण ने कहा—"भाभी जी, आपकी उक्ति मे कटूक्ति तो नहीं है ? मुझे उसमे व्यंग्य की ध्वनि मालूम होती है।"

मनोरमा ने कहा—"व्यग्य ! नही तो।"

शाडिल्य मौन रहे। मानो उन्हे कुछ कहना नही था। नारायण ने

उनकी ओर देखा, और देखा कि वह किसी ओर नही देख रहे है, खोये से है। उसने कहा—"स्त्री को परवश रहना होता है, क्या यही आप कहना चाहती है? लेकिन भाई साहब तो किसी को वश मे रख नही सकते। उस तरह की कल्पना ही इनमे नही है। और फिर यह तो समाज की प्रथा की बात है। विवाह परवशता नही है।"

मनोरमा ने देखा कि चर्चा अब तत्व की नही रह गई है, एकदम पास आती जा रही है। उसको कुछ सकोच हुआ। फिर भी उसने कहा—"परवशता की बात मैं नही कहती। विवाह मे भी कोई परवशता नही है। पर स्वतन्त्रता स्त्री को पूरी तरह प्रिय ही नही होती। आप उठा दीजिये विवाह का बन्धन, या परिवार का दायित्व। सारे समाज को ही चाहे तो आप उजाड दीजिये। परस्पर कर्त्तव्य का प्रश्न ही मिटा डालिये। फिर भी स्त्री अपने राग-तन्तुओ से अपने लिए बन्धन पैदा किए बिना न रहेगी। इसलिए मुक्ति की सम्भवता उसके लिए नही है। मैं तो कहूगी की सगतता ही नही है।"

शाडिल्य अब भी कुछ नही बोले। उनकी दृष्टि दूर थी और मानो वह अन्यमनस्क थे। नारायण ने देखा और पूछा—"और पुरुष?"

"पुरुष!" कहते कहते जैसे मनोरमा रुकी। और बोली—"वह रह सकता है स्वप्न मे, या महत्वाकाक्षा मे। रागात्मकता हम स्त्रियो की प्रकृति होती है। पुरुष के लिए वह परिग्रह है। लगता है, उसमे वह घिरता है और उसकी सारी कोशिश छूटने की हो रहती है। इस तरह मुक्ति की धारणा वह पैदा करता है और उसको अपनी साधना बना लेता है। कहते हैं, स्त्री और पुरुष परस्पर योग और सहयोग के लिए है। लेकिन यह साबित सच नही है, पुरुष को वियोग उससे अधिक आवश्यक मालूम हो सकता है! योग-सहयोग जैसे शब्द उसे यहा रास्ते-से लगते है। असल मे वह वियोग ढूढता है। वियोग शब्द तक को उसने इसलिए इतना ऊचा उठा दिया है कि उसका अर्थ ससार मे वियुक्त होना बन गया है, युक्त बस किसी परमेश्वर से। जिसका आवश्यक अर्थ

होना चाहिए, वियुक्त इस जगत से और सब हम-तुम से। नही तो पूछ देखिये अपने भाई साहब से।"

नारायण ने कहा—"सुना, भाई साहब ?"

भाई साहब ने सुना। मानो कही से टूटकर वह वर्तमान मे उपस्थित हुए और बोले—"तुम्हारी भाभी जी को नारायण तुम पा नहीं सकोगे। बात तक मे यह अगम हो जाती है।"

नारायण को कुछ अच्छा मालूम हुआ। जैसे बात मे अब स्पदन पड रहा हो। अब तक जैसे वह दूर और वाग्व्य थी। अब वह घनिष्ठ और वास्तव हो। उसमे जिये जाते हुए जीवन का सन्दर्भ हो और वस्तु-स्थिति से दूर कटी निरी सैद्धान्तिक ही न हो। बल्कि दर्द की तरह कसकती और रक्त की तरह धमनी मे धडकती भी हो।

"मै अगम !" मनोरमा ने कहा, "अगम है तुम्हारा मोक्ष। नही तो बताओ वह क्या है ? छूटना चाहते हो, तो किससे ? मुक्ति क्या और कहा और क्यो ? तुम लोग जीवन भर ससार रचते हो। कमाने के लिए लडते हो, लडने के लिए कमाते हो—और किताबो मे लिखते हो कि जीवन का आदर्श मुक्ति है। मतलब कि सृष्टि के सब पदार्थो से और हम सब जीवो से खेल खाल कर मर जाओ तो कहो यह सब माया है, सब प्रपच था, और असल मे जीवन की यात्रा सच मे जिस तीर्थ के हेतु मे थी, वह तो मोक्ष है। राह के पडावो पर कुछ हम टिके रह भी गये तो यह तो विश्राम था केवल अगली यात्रा के लिए सक्षम होने के अर्थ। नही तो ससार बाधा है और विघ्न है।"

शाडिल्य ने सुनते सुनते भवो मे बल डाला और पूछा—"तुम क्या चाहती हो ?"

मनोरमा सचेत हुई। बोली—"क्या मतलब ?"

"मैने तुम्हे क्या कह नही दिया है कि तुम स्वतन्त्र हो !"

"कह दिया है, लेकिन क्या मैं भी नही कह चुकी हू ? एक बार नही, दस बार कि मैं स्वतन्त्र हो नहीं सकती हू, सोच नही सकती हू। उस

शब्द का ही मेरे लिए कुछ अर्थ नही है। तुम्हारे नजदीक अर्थ हो तो मेरी चिन्ता तुम्हारा काम नही है, न किसी दूसरी चिन्ता को तुम्हे ओढना चाहिए। वह सब मैं समेट लूगी। तुम मन को रोको मत, जिधर अभीष्ट हो, बढ जाओ।"

"सुनते हो नारायण ?" शाडिल्य ने कहा। "तुम्हारी भाभी क्या कह रही है ? कह रही है, मैं सन्यासी हो जाऊं।"

"हा, नारायण, मैं इनसे कह रही हू कि तुम कभी कभी विकल और व्याकुल क्यो दिखाई दे आते हो ? जैसे खाली हो और सब वृथा हो, हम लोग जग-जात के अग हो। तुम्हे आवश्यकता परमेश्वर की मालूम होती है। छूटना चाहते हो तुम जग से और पाना चाहते हो परमात्मा को। छूटना चाहते हो इस सब से और पाना जिसे चाहते हो उसे बस मुक्ति यानी पूरी तरह छूटने का ही नाम देते हो। तो कहती हू, अटको मत। हम सब पर एक क्षण के लिए मत रुको। नही कहती सन्यास, पर मुक्ति का जो भी बाना होता हो तय कर लो। शास्त्रो मे उस बाने को ही सन्यास का नाम दिया है। कपडे भगवे हो जाते है, और घर घर नही रहना। ठीक है, वह सही। लेकिन, नारायण, मैं इन्हे अगर अकेला और आकुल नही देख सकती तो कहती हू कि मैं बेवस हू। अपनी इस बेकली पर नाराज भी नही हू। मुझे वह प्रिय है। मेरा वह स्वधर्म है। हो मुक्ति तो हो, स्त्री होकर मुझे उसे छूना भी नही है। जब तक यह घर मे हैं, मैं इन्हे अपने राग अनुराग के सूत्रो की लपेट मे मुक्त नही कर सकती हू। यह—यही कहते रहते हैं कि मेरी चिन्ता मत करो। लेकिन निश्चिन्त रहना हम स्त्रियो को मिला नही है। इसलिए मेरा राग, मेरी चिन्ता ही इनके लिए बोझ बन गई हो तो अब तुम्हारे सामने कह रही हू, कि यह आजाद है।...तुम्हे मालूम है, नारायण ? इन्होने सब जगह से अपना नाम हटा लिया है, मेरा डाल दिया है। वकालत छोड दी है, कविता करने लगे है। भक्ति की और रहस्य की कविता। अच्छी तो बात है। लेकिन भक्ति और रहस्य की

शब्द का ही मेरे लिए कुछ अर्थ नही है। तुम्हारे नजदीक अर्थ हो तो मेरी चिन्ता तुम्हारा काम नहीं है, न किसी दूसरी चिन्ता को तुम्हें ओढना चाहिए। वह सब मैं समेट लूगी। तुम मन को रोको मत, जिधर अभीष्ट हो, बढ जाओ।"

"सुनते हो नारायण ?" शाण्डिल्य ने कहा। "तुम्हारी भाभी क्या कह रही है ? कह रही है, मैं सन्यासी हो जाऊ।"

"हा, नारायण, मैं इनसे कह रही हू कि तुम कभी कभी विकल और व्याकुल क्यों दिखाई दे आते हो ? जैसे खाली हो और सब वृथा हो, हम लोग जग-जात के अग हो। तुम्हे आवश्यकता परमेश्वर की मालूम होती है। छूटना चाहते हो तुम जग मे और पाना चाहते हो परमात्मा को। छूटना चाहते हो इस सब से और पाना जिसे चाहते हो उसे बस मुक्ति यानी पूरी तरह छूटने का ही नाम देते हो। तो कहती हू, अटको मत। हम सब पर एक क्षण के लिए मत रुको। नही कहती सन्यास, पर मुक्ति का जो भी बाना होता हो तय कर लो। शास्त्रो मे उस बाने को ही सन्यास का नाम दिया है। कपडे भगवे हो जाते हैं, और घर घर नही रहता। ठीक है, वह सही। लेकिन, नारायण, मै इन्हे अगर अकेला और आकुल नहीं देख सकती तो कहती हू कि मैं बेबस हू। अपनी इस बेकली पर नाराज भी नहीं हू। मुझे वह प्रिय है। मेरा वह स्वधर्म है। हो मुक्ति तो हो, स्त्री होकर मुझे उसे छूना भी नहीं है। जब तक यह घर मे हैं, मैं इन्हे अपने राग अनुराग के सूत्रों की लपेट से मुक्त नही कर सकती हू। यह—यही कहते रहते है कि मेरी चिन्ता मत करो। लेकिन निश्चिन्त रहना हम स्त्रियो को मिला नही है। इसलिए मेरा राग, मेरी चिन्ता ही इनके लिए बोझ बन गई हो तो मैं तुम्हारे सामने कह रही हू, कि यह आजाद हैं।" तुम्हे मालूम है, नारायण ? इन्होंने सब जगह से अपना नाम हटा लिया है, मेरा डाल दिया है। वकालत छोड दी है, कविता करने लगे हैं। भक्ति की और रहस्य की कविता। अच्छी तो बात है। लेकिन भक्ति और रहस्य की

कर दो और उनसे भी ऊंची चोटी पर चढ़कर दिखा दो, अपने को और दुनिया को, कि तुम कम नहीं हो। त्याग के सहारे अपने को अधिक मानने की आवश्यकता तुम्हारे लिए अगर होती है तो इसीलिए कि मन में कहीं तुम्हारे भीतर है कि दूसरे लोग तुम्हारे बड़प्पन को अन्यथा जानते नहीं हैं।"

"छोड़ो मन्नो!" एकाएक शांडिल्य ने कहा। "तुम नहीं समझोगी। नारायण, शायद तुम भी नहीं समझोगे। इस संसार में मालूम होता है कोई नहीं समझेगा। हम क्यों एक दूसरे को समझ नहीं पाते हैं? क्यों अपने-अपने पिंजरे में हैं कि चाहे एक दूसरे से बात कर लें और भी तरह-तरह के सम्बन्ध पैदा कर लें, लेकिन पिंजरे के भीतर सिर्फ और खुद ही बने रहें? नारायण, यह पत्नी है। चालीस वर्षों से हम साथ हैं। हमारे प्यार की कथाएं बनी हैं, और सचमुच उसमें उन्नत प्रेम का भोग किसी ने पाया नहीं होगा। तुम मित्र हो और जानता हूं, मेरे लिए क्या कुछ तुम भुगत नहीं सकते हो। लेकिन यह क्यों है कि मैं अकेला हूं और मनोरमा तक मुझे गलत समझ सकती है।"

नारायण का अन्तरंग असमंजस मानो बढ़ता गया। उसने हंसकर कहा, "भाभी मनोरमा जी, भाई साहब को आप क्यों गलत समझती हैं? कविता करते हैं तो करने दीजिये। वकालत नहीं करते, मत करने दीजिए। भाई साहब, आइए आप ही छोड़िए। कहां तो हम लोग मुनाफा ले बैठे। लेकिन मैं जाऊंगा। जाने से पहले वचन दीजिए कि मुक्ति कम्बख्त को आप लोग मुक्त ही रखेंगे और अपनी बातों में उसको, या आपस में किसी को, घेरना बांधना नहीं चाहेंगे। कहिए भाई साहब, कहिए भाभी जी? मुझे अब इजाजत दें।"

नारायण अनुपस्थिति में चला गया तो मानो उनके बीच से वह सेतु उठ गया जो दोनों के तटों को तो भी किसी तरह मिलाए हुए था। पति और पत्नी पास थे, लेकिन दोनों की निगाहों में इस समय मानो परिचय जितनी भी अभिज्ञता नहीं रह गई थी। जैसे अजनबी हों और सम्बोधन

का भी वास्ता एक दूसरे के बीच न हो। दो-एक क्षण कोई कुछ नही बोला। शाडिल्य खडे थे, मनोरमा बैठी थी। दोनो ने एक-दूसरे को देखा और देखकर अनदेखे हो गए। कुछ करने के लिए शाडिल्य के हाथो ने मेज पर से ट्रे को और गिलासो को उठाया और बराबर मे कॉर्निस पर रख दिया। जैसे कुछ करें तभी अपना होना सहा जा सकता है। लौटकर उन्होने मेजपोश के कोने को ठीक किया। जरा इधर-उधर अपेक्षा की निगाह से देखा और फिर सोफा के पीछे अलमारी के सामने जाकर वहा से किताब निकाली और बैठकर पढने लगे।

मनोरमा अपनी जगह पर ज्यो की-त्यो बैठी रह गई। गिलास उठाने, मेजपोश ठीक करने और फिर जाकर अलमारी मे से किताब खींचते और बैठकर पढने लग जाने की पति की सारी विधि को मनोरमा बिना देखे देखती रह गई। जानती थी, कुछ नही है, केवल क्रिया है। उसमे आत्मता नही है, केवल व्यर्थता है। व्यस्तता बस बचाव है। किताब कोरी क्रियमाणता प्रतीक है कि जिसकी ओट वह मुझसे बचे और अपने को झेले। मनोरमा का मन इस अनुभूति पर भीतर-भीतर ऐंठ-सा आया। लेकिन वह अपनी जगह से हिली न डुली। मानो दुर्लंघ्य व्यवधान बीच मे हो और दोनो ओर निरुपायता हो।

शाडिल्य दूर उस कोने मे पढते रहे। मनोरमा अलग इस तरफ बैठी रही। शाडिल्य की आयु तिरसठ वर्ष है। मनोरमा अठावन है। चालीस वर्ष के लगभग दोनो साथ रहे हैं। पर शाडिल्य पढ पर पढ रहे हैं, मनोरमा बैठी की बैठी है। समय सरक रहा है—और मालूम होता है, बीच मे निपट अन्तराल है, सम्बद्धता के सूत्र वहा से लुप्त हो गए हैं। शुद्ध आकाश रह गया है, अथवा काल। अन्यथा दो निजताओ और अहताओ मे नितातता है और बीच मे मात्र शून्य। जैसे सागरो मे अलग हुए दो द्वीप हो कि मध्य मे नितान्त घोर अपरिचय और अनभिज्ञता ही सम्भव हो।

किताब सामने है और अनुभव होता है कि दुनिया है और नही है।

क्या है सब ? है, और व्यर्थ है। पढ़ रहे हैं और शब्द और वाक्य भी पढ़े जा रहे हैं, पर कुछ नहीं है और सब थोथा है। बेकार और व्यर्थ है। जीना बोझ है। खाक करना है जीकर। सब जी का जंजाल है, नहीं तो।

और मनोरमा बैठी है। सहती हुई विमनस्कता एक विधा कि जिसको टालने का या निबटाने का उपाय नहीं है।

एक दो पांच दस मिनट हो गए। नहीं सहा नहीं जाता है। था अब तक कि होने दो जो हो मैं क्या करूं ? लेकिन वह सब था, अब नहीं चल रहा है। नहीं, कुछ करना होगा। अपने में घिरकर बैठना नहीं हो पाएगा, नहीं हो पायेगा। मनोरमा अपनी जगह से उठी। अट्ठावन वर्ष की मनोरमा।

चलते-चलते सोफे कुर्सी की पीठ के पीछे वह पहुंच गई। लेकिन पति पढ़ रहे हैं। उन्हें नहीं मालूम। उसने कन्धों पर हाथ रखा। उन्हें नहीं मालूम। कन्धों को दबाया। उन्हें नहीं मालूम।

जोर से दबाया। नहीं मालूम।

"सुनो!"

"क्या है ? मुझे पढ़ने दो।"

पत्नी ने झुककर किताब उनके हाथों से छीनी और वहीं से जोर से मेज पर फेंक दी। और हंसकर कहा "पढ़ो न!"

"यह क्या बदतमीजी है!"

"अच्छा अच्छा, उठो।"

"किताब लाओ पहले मेरी उठा के।"

"किताब ही पढ़ोगे ?"

"नहीं तो पढ़ूं तुम्हारा सिर ?"

"सिर क्यों, और कुछ नहीं है ? आंखों देखो।"

"हटो तुम, हट जाओ यहां से।"

मनोरमा सामने आ गई थी। उसने उठाकर पति का हाथ ऊपर

लिया। पतिने झिटक दिया।

वह और निकट आ गई। बोली, "सुनते हो, मैं भारी बहुत हो गई हू। तुम्हें तकलीफ न हो।"

"बको मत।"

"देखो, कह रही हू। फिर जो बुरा मानो।"

"क्या हुआ है तुम्हे। शर्म करो जरा।"

"तो लो!"

मनोरमा बैठे हुए पति की जानु पर धव्व से आ बैठी और चिबुक मे हाथ देकर पति के चेहरे को ऊपर उठाया और चूम लिया!

पति ने कहना चाहा कि कुछ तो शऊर सीखो। पर उसका समय न था और मालूम हुआ कि अब उसके लिए कही कुछ नही रह गया है। न कविता, न सभ्यता, न मुक्तता।

स्वय जो मिट गया है तो क्या इसी मे सब मिल गया है!

जुलाई '६५